Year-69, Volume-4
Oct. - Dec. 2016

RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

अनुसंधान कक्ष

वीर सेवा मंदिर प्रवेश द्वार

कार्यालय कक्ष

वीर सेवा मंदिर
(जैनदर्शन शोध संस्थान)
Vir Sewa Mandir
(A Research Institute for Jainology)
21, अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली–1100 02
21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002
फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522 E-mail-virsewa@gmail.com

प्रकाशक एवं मुद्रक : श्री भारतभूषण जैन, एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर 21, दरियागंज, नई दिल्ली–110 002 से प्रकाशित
एवं शकुन प्रिन्टर्स, 241, पटपड़गंज इण्डस्ट्रियल एरिया, दिल्ली– 110 092 से मुद्रित।

Year-69, Volume-4
Oct. - Dec. 2016

RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKĀNTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली - 110 002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

Year-69, Volume-3
RNI No. 10591/62

July-Sept 2016
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
मो. 09760002389

Editor
Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110002

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक
पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Founder
Pt. Jugalkishore Mukhtar 'Yugveer'

श्री भारतभूषण जैन, अध्यक्ष
श्री विनोदकुमार जैन, महामंत्री

Sh. Bharatbhushan. Jain, President
Sh. Vinod Kumar Jain, Gen. Secretary

सम्पादक मण्डल

प्रो. डॉ. राजाराम जैन, नोएडा
प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ
प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत
श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली
प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Editorial Board

Prof. Dr. Rajaram Jain, Noida
Prof. Dr. Vrashabh Prasad Jain,Lucknow
Pracharya Dr. Shital Chand Jain, Jaipur
Dr. Shreyans Kumar. Jain, Baraut
Sh. Roopchand Kataria, New Delhi
Prof. M.L. Jain, New Delhi

पत्रिका शुल्क/ Journal Subscription

एक अंक- रुपए 25/- वार्षिक- रुपए 100/-

Each issue - Rs. 25/- Yearly - Rs. 100/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता-

वीर सेवा मन्दिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

All correspondence for the journal & Editorial

Vir Sewa Mandir (A Research Institution for Jainology)

21, Ansari Road, Darya Ganj, New Delhi-110002

Phone No. 011-30120522, 23250522, 09311050522

email : virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं। सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

तुम जिनवर गुण गावो

तुम जिनवर गुण गावो,
यह औसर फिर न पावो।
मानव भव जन्म दुहेला,
दुर्लभ सत्संगति मेला।
यह बात भली बनि आई,
भगवान भजो मेरे भाई।
पहिले चित चोर सम्हालो,
कामादिक कीच उलारो।
फिर पलि फिटकड़ी दीजे,
तुम सुमरन रंग रंगीजे।
धन जोड़ भरा जो कुणा,
परिवार बढ़े क्या दूजा।
हरसी चढ क्या कर लीना ?
प्रभु भजन बिना धृत जीना।
यह शिक्षा है व्यवहारी,
निश्चय की साधन हारी।
'भूधर' पैड़ी पग धरिये,
तब चढने की सुधि करिये।

- पं. भूधरदास जी

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1. संपादकीय	- डॉ. जयकुमार जैन	5-6
2. स्थायी स्तम्भ- युगवीर गुणाख्यान	- संपादक	7-10
3. जैनधर्म की विश्वव्यापकता	- डॉ. एन. सुरेशकुमार	11-21
4. जैन परम्परा पोषित, भाव विशुद्धि की प्रक्रिया और ध्यान	- प्रो. अशोककुमार जैन	22-32
5. ज्ञानार्णव में वर्णित स्त्री स्वरूप और उनकी युक्ति-युक्तता	- डॉ. सतेन्द्र कुमार जैन	33-48
6. अशोक-शिलालेख में निहित दर्शन (गिरनार शिलालेख के सन्दर्भ में)	- डॉ. आनन्द कुमार जैन	49-53
7. जैनकर्मवाद के आधारभूत सिद्धांत	- प्रो. श्रीयांशकुमार सिंघई	54-63
8. भारतीय दर्शनों में अनेकान्तवाद के तत्त्व : एक ऐतिहासिक विवेचन	- प्रो. सागरमल जैन	64-85
9. सराग एवं वीतराग सम्यग्दर्शन : एक चिन्तन	- डॉ. आलोक कु. जैन	86-94
10. श्रुतपंचमी महापर्व पर एक अच्छा आयोजन	- संपादक	95
11. ग्रन्थसूची- वीर सेवा मंदिर प्रकाशन		96

संपादकीय

कुण्डलपुर महामस्तकाभिषेक

यह सर्वविदित तथ्य है कि अपनी मनमोहक छटा के कारण जहाँ कुण्डलपुर सहज ही प्रकृति प्रेमियों को आकर्षित करता है, वहाँ दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र पर विराजमान तथा बड़े बाबा के नाम से विश्वप्रसिद्ध भगवान् आदिनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा भावक भक्तों की भक्ति को सदा से प्रभावित करती रही है। जो एक बार इस प्रतिमा का दर्शन कर लेता है, वह बार-बार वहाँ जाता रहता है तथा उसके मन में उसे सदा निहारने की भावना होती रहती है। सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज का यह पावन तीर्थक्षेत्र म.प्र. के दमोह मण्डल में मुख्यालय से लगभग 35 किमी. की दूरी पर समुद्रतल से 3000 फीट ऊँचे कुण्डलाकार गिरिश्रृंखला में स्थित है। यहाँ विराजमाल बड़े बाबा की प्रतिमा कभी चिह्न न होने के कारण भगवान् महावीर की मानी जाती थी, किन्तु है भगवान् आदिनाथ की। इसे अब एक मत से स्वीकार कर लिया गया है।

वयोवृद्ध लोगों के मुख से सुना है कि यह प्रतिमा कभी गाँव वर्रट (विराट्) की मूलनायक प्रतिमा थी। वहाँ के मन्दिर के खण्डित हो जाने पर इस कुण्डलाकार पर्वत पर विराजमान की गई थी। प्रतिमा के विषय में अन्य भी अनेक अतिशयकारी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इसमें किसी भी जैन की असहमति नही हो सकती है कि प्रतिमा अतिशयकारी थी और आज भी उसका अतिशय वर्धमान ही है। कुण्डलपुर क्षेत्र पर विराजमान वि.स. 1183 (1126 ई.) की प्रतिमा के कारण क्षेत्र की प्राचीनता असंदिग्ध है।

इतिहास बताता है कि पन्ना राज्य के महाराजा छत्रसाल को जब आततायियों के कारण पन्ना नगर छोड़कर भागना पड़ा था तो वे कुण्डलपुर के जंगलों में घूमते रहे। वहाँ उनकी मुलाकात ब्र. नमिसागर से हुई। ब्र. जी ने उनसे जीर्णोद्धार हेतु धन मांगा। महाराजा छत्रसाल ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि यदि मुझे पन्ना का राज्य वापिस मिला तो मैं

प्रतिज्ञा करता हूँ कि राजकोष से क्षेत्र का जीर्णोद्धार अवश्य कराऊँगा। जिनभक्ति के प्रभाव एवं दैव की अनुकूलता से उन्हें पन्ना का राज्य वापिस प्राप्त हो गया। उन्होंने राजकोष से जीर्णोद्धार का कार्य कराया जो वि.सं. 1757 (1700ई.) में पूरा हो गया। वहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव सोमवार माघ शुक्ला पूर्णिमा वि.सं. 1757 में पूर्ण हुआ, जिसमें महाराजा छत्रसाल स्वयं पधारे तथा उन्होंने क्षेत्र के लिए छत्र, चमर एवं पूजा के पात्र भेंट किये। उसी की स्मृति में तब से वहाँ पर माघ शुक्ला पूर्णिमा को भव्य मेला का आयोजन होता आ रहा है। ऐसा कहा जाता है कि मुगल शासकों ने बड़े बाबा की मूर्ति को तोड़ने का खूब प्रयास किया किन्तु उन्हें मधु-मक्खियों द्वारा घेर लेने तथा अन्य-अन्य अतिशयकारी कारणों से मुह की खानी पड़ी तथा प्राण बचाकर भागना पड़ा था।

आज परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज वरिष्ठ आचार्य तो हैं ही, अपनी निरतिचार चर्या के कारण 20-21वीं शताब्दी के इतिहास में प्रथम पांक्तेय तथा कनिष्ठिकाधिष्ठित हैं। उनके ससंघ पावन सान्निध्य में 5-9 जून, 2016 में बड़े बाबा का महामस्तकाभिषेक महोत्सव अत्यन्त प्रभावना के साथ मनाया गया, जो भक्तों की भीड़ को देखकर आगे भी चलता रहा। इस अवसर पर देश एवं प्रदेश के बड़े-बड़े राजनेताओं, विद्वानों एवं श्रेष्ठियों ने बड़े बाबा के दर्शन कर जहाँ अपने नेत्रवान् होने का फल प्राप्त किया, वहाँ छोटे बाबा के नाम से प्रसिद्ध परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज ससंघ के दर्शन से अपने पुण्य की सराहना की। कुण्डलपुर में विराजमान बड़े बाबा और उनके प्रति अतिशयित प्रशस्तानुरागी आचार्यश्री (ससंघ) के पावन चरणों में कोटिशः नमोऽस्तु।

- डॉ. जयकुमार जैन

******

युगवीर गुणाख्यान

वीतराग की पूजा क्यों ?

वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक वाङ्मयाचार्य पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' का यह निबन्ध 'वीतराग की पूजा क्यों?' लगभग 62 वर्ष पूर्व 'समन्तभद्र-विचार-दीपिका' के प्रथम भाग में प्रकाशित हुआ था। निबन्ध को आज के समय अत्यन्त आवश्यक मानकर अविकल रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, इसे पढ़कर श्रावक/श्राविकायें वीतराग भगवान् की पूजा का प्रयोजन समझ सकेंगे।

– संपादक

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजा से प्रसन्न होता है, और प्रसन्नता के फलस्वरूप पूजा करने वाले का कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोक में उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजा से किसी का प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसके बिना अप्रसन्न रहता हो, या उससे उसकी प्रसन्नता में कुछ वृद्धि होती हो अथवा उससे उसको कोई दूसरे प्रकार का लाभ पहुँचता हो; परन्तु वीतरागदेव के विषय में यह सब कुछ भी नहीं कहा जा सकता- वे न किसी पर प्रसन्न होते हैं, न अप्रसन्न और न किसी प्रकार की कोई इच्छा ही रखते हैं, जिसकी पूर्ति-अपूर्ति पर उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता निर्भर हो। वे सदा ही पूर्ण प्रसन्न रहते हैं- उनकी प्रसन्नता में किसी भी कारण से कोई कमी या वृद्धि नहीं हो सकती। और जब पूजा-अपूजा से वीतरागदेव की प्रसन्नता या अप्रसन्नता का कोई सम्बन्ध नहीं- वह उसके द्वारा संभाव्य ही नहीं- तब यह तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता कि पूजा कैसे की जाय, कब की जाय, किन द्रव्यों से की जाय, किन मन्त्रों से की जाय और उसे कौन करे- कौन न करे? और न यह शंका ही की जा सकती है कि अविधि से पूजा रकने पर कोई अनिष्ट घटित हो जाएगा, अथवा

किसी अधर्म-अशोभन-अपावन मनुष्य के पूजा कर लेने पर वह देव नाराज हो जायगा और उसकी नाराजगी से उस मनुष्य तथा समूचे समाज को किसी दैवी कोप का भाजन बनना पड़ेगा; क्योंकि ऐसी शंका करने पर वह देव वीतराग ही नहीं ठहरेगा- उसके वीतराग होने से इनकार करना होगा और उसे भी दूसरे देवी-देवताओं की तरह रागी-द्वेषी मानना पड़ेगा। इसी से अक्सर लोग जैनियों से कहा करते हैं कि- ''जब तुम्हारा देव परम वीतराग है, उसे पूजा-उपासना की कोई जरूरत नहीं, कर्ता-हर्ता न होने से वह किसी को कुछ देता-लेता भी नहीं, तब उसकी पूजा-वन्दना क्यों की जाती है और उससे क्या नतीजा है?''

इन सब बातों को लक्ष्य में रखकर स्वामी समन्तभद्र, जो कि वीतरागदेवों को सबसे अधिक पूजा के योग्य समझते थे और स्वयं भी अनेक स्तुति-स्तोत्रों आदि के द्वारा उनकी पूजा में सदा सावधान एवं तत्पर रहते थे, अपने स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं-

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्त-वैरे।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

अर्थात्- हे भगवन्! पूजा-वन्दना से आपका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि आप वीतरागी हैं- राग का अंश भी आपके आत्मा में विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसी की पूजा-वन्दना से आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दा से भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है- कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नहीं आ सकता; क्योंकि आपके आत्मा से वैरभाव-द्वेषांश बिल्कुल निकल गया है- वह उसमें विद्यमान ही नहीं है- जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्यों का उद्भव हो सकता। ऐसी हालत में निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिये समान है- उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। यह सब ठीक है, परन्तु फिर भी हम जो आपकी पूजा-वन्दनादि करते हैं उसका दूसरा ही कारण है, वह पूजा-वन्दनादि आपके लिये नहीं- आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको कोई लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्य गुणों का स्मरण-भावपूर्वक अनुचिन्तन-, जो हमारे चित्त को- चिद्रूप

आत्मा को-पापमलों से छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्मा के विकास की साधना करते हैं। इसी से पद्य के उत्तरार्ध में यह सैद्धान्तिक घोषणा की गई है कि 'आपके पुण्य-गुणों का स्मरण हमारे पापमल से मलिन आत्मा को निर्मल करता है- उसके विकास में सचमुच सहायक होता है।

यहाँ वीतराग भगवान् के पुण्य-गुणों के स्मरण से पापमल से मलिन आत्मा के निर्मल (पवित्र) होने की जो बात कही गई है, वह बड़ी ही रहस्यपूर्ण है, और उसमें जैनधर्म के आत्मवाद, कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद- जैसे सिद्धान्तों का बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्मरूप में संनिहित है। इस विषय में मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी 'उपासनातत्त्व' और 'सिद्धिसोपान' जैसी पुस्तकों में किया है- स्वयम्भूस्तोत्र की प्रस्तावना के 'भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि रहस्य' नामक प्रकरण से भी पाठक उसे जान सकते हैं। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्र ने वीतरागदेव के जिन पुण्य-गुणों के स्मरण की बात कही है वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि आत्मा के असाधारण गुण हैं, जो द्रव्यदृष्टि से सब आत्माओं के समान होने पर सबकी समान-सम्पत्ति हैं और सभी भव्यजीव उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। जिन पापमलों ने उन गुणों को आच्छादित कर रखा है। वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, योगबल से जिन महात्माओं ने उन कर्ममलों को दग्ध करके आत्मगुणों का पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित, सिद्धात्मा एवं वीतराग कहे जाते है - शेष सब संसारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितादि दशाओं में है और वे अपनी आत्मनिधि को प्रायः भूले हुए हैं। सिद्धात्माओं के विकसित गुणों पर से वे आत्मगुणों का परिचय प्राप्त करते हैं और फिर उनमें अनुराग बढ़ाकर उन्हीं साधनों-द्वारा उन गुणों की प्राप्ति का यत्न करते हैं जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओं ने किया था और इसलिये वे सिद्धात्मा वीतरागदेव आत्म-विकास के इच्छुक संसारी आत्माओं के लिये 'आदर्शरूप' होते हैं। आत्मगुणों के परिचयादि में सहायक होने से उनके 'उपकारी' होते हैं और उस वक्त तक उनके 'आराध्य' रहते हैं जब तक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूप से विकसित न हो जाय। इसी से

स्वामी समन्तभद्र ने ''ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिनशीतलेड्यसे (स्व. 50)'' इस वाक्य के द्वारा उन बुधजन-श्रेष्ठों तक के लिये वीतराग देव की पूजा को आवश्यक बतलाया है जो अपने निःश्रेयस की-आत्मविकास की-भावना में सदा सावधान रहते हैं और एक दूसरे पद्य 'स्तुतिः स्तोतुः साधोः' (स्व. 116) में वीतरागदेव की इस पूजा-भक्ति को कुशलपरिणामों की हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्ग का सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है। साथ ही, उसी स्तोत्रगत नीचे के एक पद्य में वे योगबल से आठों पापमलों को दूर करके संसार में न पाये जाने वाले ऐसे परमसौख्य को प्राप्त हुए सिद्धात्माओं को स्मरण करते हुए अपने लिये तद्रूप होने की स्पष्ट भावना भी करते हैं, जोकि वीतरागदेव की पूजा-उपासना का सच्चा रूप है :-

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्भवतु ममापि भवोपशान्तये॥

स्वामी समन्तभद्र के इन सब विचारों से यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वीतरागदेव की उपासना क्यों की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है।

******

लेखकों से अनुरोध

आप सभी से अनुरोध है कि आप अपने हिन्दी के आलेख **वाकमैन चाणक्य** अथवा **कृतिदेव** फोन्ट में जिसका साइज 16 एवं अंग्रेजी के आलेख **टाइम्स न्यू रोमन** अथवा **एरियल** फोन्ट के साइज 12 में ही प्रेषित करें। आपका आलेख 8-10 पेज से ज्यादा नहीं होना चाहिए। आलेखों की सॉफ्ट कॉपी पीडीएफ फाइल के साथ आप वीर सेवा मन्दिर के ईमेल virsewa@gmail.com पर भेज सकते हैं।

- संपादक

जैनधर्म की विश्वव्यापकता

- डॉ. एन. सुरेश कुमार

विश्व के मूल के बारे में चिन्तन करते हुए उसकी प्राचीनता की ओर सूक्ष्मता से दृष्टिपात करने पर इस विश्व का कर्मयुग के मूल पूर्वज धर्मनेता के पदचिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। उसने कर्मयुग प्रारम्भ होते ही दिग्भ्रान्त हुए प्रजासमूह को आजीविका के उपाय असि (शस्त्र-अस्त्र आदि आयुधविद्या), मसि (लेखनकार्य), कृषि, वाणिज्य (व्यापार), विद्या (अंक व अक्षर आदि का अध्ययन व अध्यापन) और शिल्प (चित्र-मूर्ति-शिल्प विद्या) ये प्रमुख षट्कर्म बताये थे। अतएव प्रजाजन उसे प्रजापति, ब्रह्मा आदि नामों से सम्बोधित करते थे। इस विषय का आचार्य जिनसेन ने महापुराण तथा आदिकवि पम्प ने आदिपुराण ग्रंथ में वर्णन किया है।

इसी भारतीय विचारधारा को वैदिक परम्परा के भागवतादि पौराणिक ग्रन्थों में भी कहा गया है। सर्वप्रथम प्रजापति ने इस विश्व को धर्म का मार्ग दिखाते हुए संसार के बन्धनों से मुक्त होने हेतु मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है। तब से उसे जैन-जैनेतर धर्मग्रन्थों में अरह, अरहन्त, अर्हन् आदि नामों से अभिहित किया है।

इस कर्मयुग में धर्म का प्रवर्तन करने वाला आदिपुरुष का नाम है **वृषभ**। इसे जैनधर्म में वृषभदेव, वृषभनाथ, ऋषभदेव आदि विशेष नामों से पुकारा गया है। प्रादेशिक इतिहास और भाषा को सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यही वृषभ अथवा ऋषभ नाम यहूदी, क्रैस्त (जेसस्), इस्लाम आदि धर्मों में भिन्न-भिन्न परिवर्तित रूपों में उच्चारित किया जाता है।

यहूदी धर्म में **ऋषभ** शब्द जहो अथवा यहोव के रूप में परिवर्तित है। ऋषभ शब्द में से ऋकार प्राकृत भाषा के व्याकरण के नियमानुसार अ, इ, उ और री होता है। अकार यकार में परिवर्तित हो जाता है और यही

यकार जकार में भी परिवर्तित हो जाता है तथा षकार हकार होता है। उसी प्रकार भकार वकार के रूप में परिवर्तित होता है।

इस प्रकार देखा जाय तो परिवर्तित ऋषभ शब्द का जहव रूप यहूदी में प्रचलित था। जहोव-यहोव नाम इसरेलियों का धर्मनेता का नाम माना गया है, जिनका धर्म ही यहूदी धर्म है। इसका मूलधर्म ऋषभ का धर्म था।

क्रैस्त धर्म में प्राकृत भाषा के व्याकरण के नियमानुसार ऋ का य तथा ष एवं श का स और भ का फ होता है।

ऋ - य
ष - स
भ - फ

इस प्रकार ऋषभ शब्द यसफ के रूप में परिवर्तित है। यकार का जकार होने से जसफ भी होता है। यही जसफ आज जोसफ-Joseph के रूप में प्रचलित हुआ है। ऋषभ-यसफ, जसफ-जोसेफ।

अरब परिसर में प्रचलित बोलियाँ प्राकृत भाषा से अधिकतम सम्बन्ध रखती हैं। जैसे प्राकृत भाषा के व्याकरण के नियमानुसार ऋषभ शब्द में से ऋ का इ हो होता है। षकार का सकार होता है, भकार का फकार होता है। इस प्रकार इसफ बना है। इसफ में फ का भ भी होने से इसभ हुआ। यासुभु एवं यासुफु अथवा यासुभ् एवं यासुफ् भी बना। यूसुफ्, सूसुभ्- इस पकार के परिवर्तनों में कोई निर्दिष्ट नियम नहीं है।

क्रैस्त और किसी अन्य-अन्य प्रदेशों में प्राचीनकाल में यहाँ के सब विशाल देशों में एक जैनधर्म ही अस्तित्व में था। क्रैस्त, इस्लाम और यहूदियों में जोसेफ्, जहोव, यहोभ, इहोव, युसुफ, यूसुभ् भी परिवर्तित रूप पाये जाते हैं। इन तीनों नामों से तीन धर्म कालान्तर में स्थापित हुए, जो कि इन तीनों धर्मों का मूल पुरुष एक ही था; वह है ऋषभ। यह ऋषभ इस युग के जैनधर्म का प्रथम प्रवर्तक है। इसी प्रकार पश्चिम एशियाई राष्ट्रों में अर्हन्, अरह, अरहत् शब्दों का प्रचुरमात्रा में प्रयोग दिखाई देता है। उदाहरणार्थ- अरह शब्द अरफ और अरब रूपों में परिवर्तित हुआ। प्यालेस्तिन् राज्य विमोचना सेना का प्रधान अधिकारी का नाम यस्सार अराफत् था। इसमें

अरहत् नाम का अन्यरूप ही अराफत् है। प्यालेस्तिन् देशवासियों का धर्म और इस अधिकारी का धर्म भी इस्लाम धर्म ही है। अतः इस्लाम धर्म में अर्हत् और अरहत् नाम अरफत् के रूप में आज भी प्रसिद्ध है।

यहाँ एक गम्भीरता से शोध का विषय है कि अरह, अहरत्, अरहन्त आदि शब्द जैन धर्मावलम्बियों के आराध्य भगवान् या देव का नाम है, जो इस्लामधर्मियों का कैसे हुआ? जिस प्रकार भारतीयों में व्यक्ति को सम्बोधित करने के लिए हरी, हर, शिव, विष्णु, कृष्ण, राम, नागराज, नागेन्द्र, अर्हत्, अरिहन्त, अरह आदि नाम प्रचलित हैं। उसी प्रकार इस्लाम, क्रैस्त और यहूदियों में भी प्राचीनकाल में किसी व्यक्ति को सम्बोधित करने के लिए अरह, अरहत्, अरहन्त आदि संज्ञाएँ प्रचलित थीं। इस्लाम धर्म में देव को सम्बोधित करने के लिए अरहत् या अरफत् नाम प्रचलित है। ऐसा प्रतीत होता है कि जितना अर्हत् एवं अर्हन् शब्दों का परिवर्तन हुआ है उतना अन्य शब्दों का नहीं हुआ होगा। उदाहरणार्थ- अर्हत्/ अरहत् व अर्हन्/ से अरहान्-अरहद-अरफत्-अराफत्-अर्षद्-एर्षत्-इर्फान-इरान्-येर्हन्-अरफ-रफ-रब-अब्दुल-अफ्घन्-अब्रहम, इब्राहीम्-अर्शद् आदि।

आज अफघानिस्थान नाम का मूलरूप अर्हन्स्थान या अर्हत्स्थान है। यही नाम परिवर्तित होकर अफघन+इस्थान् = अफघानिस्थान हुआ है। इरान् देश का नाम अर्हन्। अर्हन् से येर्हान् और येर्हान् से परिवर्तित होकर इरान् बना है। उसी प्रकार अर्हत् शब्द परिवर्तित होकर इराक् बना होगा। अरह से अरफ एवं अरफ से अरब तथा अरब से अरेबिया बना है, जो अंग्रेजी भाषा में परिवर्तित है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतदेश का नाम ही अरह था, जो प्रस्तुत में अरबस्थान, अरब, अरेबिया नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार अरहन्त-अरहमत-अरहमत-रहमत-रहमान् के रूप में परिवर्तित हुआ है तथा अरह से अरफ, अरहफ से अरब परिवर्तित रूप है। अल्लाह शब्द भी इसी तरह शब्द का ही परिवर्तित रूप है, जैसे कि मागधी प्राकृत में र का ल होने का नियम है। प्राचीनकाल में सामान्य लोगों ने अर्हत् शब्द को अपनी उच्चारण की सरलता के लिए अरह, अरह से अलह के रूप में उच्चारण करते हुए आगे अल्लाह के रूप में उच्चारण करने लगे। अल्लाह अथवा अल्लह ही इस्लामधर्मियों का आराध्यदेव होने से उनकी परम्पराओं

में लोग इसी नाम को व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयोग किये हैं।

उपरोक्त विवरणों को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार उपरोक्त सभी देश-राज्य अर्थात् मगधदेश से लेकर आज का इसरेल (इस्रेल) देश तक के विशाल भूप्रदेश में जैनधर्म या जिनधर्म व्याप्त था। यहाँ के लोगों का आराध्यदेव वृषभ या ऋषभ ही है। उसी आराध्यदेव को अर्हन्, अरहन्, अरह, अल्लाह, एहोव, जहोव, इसुभ, इसुफ, यासुफ, यासुभ, ईसस्, जीसस् आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। यहाँ के सभी लोग इतिहास के पूर्व काल में जैन अर्थात् ऋषभदेव के अनुयायी थे, जिसका प्रमाण निम्नानुसार है-

जैनव्यापारी लोग संबारपदार्थों को जहाज के द्वार भारतदेश से पारसकुल अर्थात् पर्सिया और अन्य देश ले जाकर बेचकर मोती, रत्न, सोना आदि बहुमूल्य पदार्थ खरीद का लाया करते थे। इसका विवरण प्रचुर प्रमाण में प्राकृत साहित्य में उपलब्ध होता है। पारसकुल अर्थात् पार्श्वनाथ तीर्थंकर के कुल वाले आज वही **पारसकुल वालों को पर्सिया** नाम से जाना जाता है। वर्तमान में इरान् (अर्हन्-एरान्) के नाम से ही प्रचलित है।

इस्लाम धर्म का पवित्र क्षेत्र है मेक्का। मेक्का शब्द मोक्ष शब्द का परिवर्तित प्राकृतभाषा का ही रूप है। मोक्ष जैनधर्म के सात तत्त्वों में से सातवाँ-अन्तिम तत्त्व है। इस्लामधर्म के ग्रन्थों में यह कहा गया है कि प्राचीनकाल में मेक्का के अन्दर प्रवेश करने वाले लोग नग्न-दिगम्बर के रूप में रहा करते थे तथा उस क्षेत्र को नमाज अर्थात् नमस्कार किया करते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि **प्रायः इस्लामधर्मी मेक्का को ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकर का मुक्तिस्थान मानते होंगे, जिसके कारण वे आज भी मेक्का की यात्रा करते हैं।**

इसी प्रकार ईसाई (क्रैस्त) धर्मावलम्बियों में भी सम्पूर्ण शाश्वत सुख हेतु यह उपदेश था कि सभी पदार्थों का परित्याग कर दिगम्बरत्व प्राप्त कर लेना चाहिये। क्रैस्तधर्म में प्रतिदिन सायंकाल पापपरिहार्थ की जाने वाली प्रार्थना-प्रैयर् करने का रिवाज था, जो जैनधर्म में प्रचलित प्रतिक्रमण-पापों की आलोचना-निन्दा एवं प्रायश्चितरूप भावना है। इस्लामधर्म में प्रातः आदि सन्ध्याकाल में भी किया जाने वाला नमाज जैनधर्म में श्रावक और साधुजन द्वारा किया जाने वाला सामायिक नामक आवश्यक कर्तव्य का ही

परिवर्तितरूप आचरण है। इस प्रकार अन्यधर्मों के कई अनुष्ठान जैनधर्म के अनुष्ठानों का ही परिवर्तित रूप है, जो वर्तमान में भी दिखाई पड़ती है।

आचार्यश्री विद्यानंद मुनि महाराज जी ने यह स्पष्ट लिखा है कि इटली, ग्रीस एवं रोम देशों में जैन साधु विहार किया करते थे। वहाँ के लोग आत्मविद्या के विचारों में निपुण थे। सम्राट सिकन्दर ने भी नग्न-दिगम्बर जैन साधु-सन्तों का दर्शन किया था तथा तक्षशिला भगवान् बाहुबली की राजधानी थी। ग्रीसदेश और अफघानिस्थान, सिन्ध, बलूचिस्तान इन सभी देशों में जैनधर्म का प्रचार प्रचुर मात्रा में था।

जैनधर्म में सुमेरूपर्वत के बारे में भी बहुत महत्त्वपूर्ण विवरण प्राप्त होता है। तीर्थंकर होने वाला बालक जन्म होते ही स्वर्ग के चारों प्रकार के देव उस भगवान् शिशु को उस पर्वत के पाण्डुकशिला पर विराजमान करके क्षीरसागर का जल लाकर अभिषेक-स्नान करते हैं। यह विशेषता है कि ऐसा तीर्थंकर का जन्माभिषेक कल्याणक जिस पर्वत पर किया जाता है वह सुमेरुपर्वत आज के ईजिप्टदेश में है। अतः इतिहासकार और जैन समुदाय इस विषय पर ध्यान देवें तथा इस विषय पर अध्ययन व संशोधन करने की आवश्यकता है। इससे जैनधर्म की प्राचीनता एवं व्यापकता स्पष्टरूप से सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त चीना, बर्मा, जापान, रशिया आदि देशों में भी जैनधर्म व्याप्त था। चीना-चिन शब्द जिन शब्द का परिवर्तित रूप है। इसे विदेशियों ने चीन नाम से उच्चारण किया है, जिससे आज वह चीना-चीनदेश के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मदेश भगवान् वृषभनाथ का विहारस्थान था। आज वही देश बर्मा-वर्मा (म्यान्मार) देश नाम से जाना जाता है।

जापान देश का एक विशेष सिद्धान्त है, जिसे झन् Zen नाम से जाना जाता है। यह विचारणीय है कि इस सिद्धान्त का जैनसिद्धान्त से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होगा। इसके बारे में शोध करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार जैनधर्म की विश्व व्यापकता के विषय पर जिज्ञासा उत्पन्न होना सहज ही है। यदि हम इस प्रकार वास्तविकता की शोध करते हुए जैनवाङ्मय का अवलोकन करने पर यह परिलक्षित होता है कि जम्बूद्वीप वृत्ताकार है। विज्ञान द्वारा प्रस्तुत भूभाग की अखण्डमण्डल के

आकार वाला है। वह भिन्न-भिन्न कालों में खण्ड-खण्ड होकर अनेक भूविभागों के रूप में विभाजित हुआ। वर्तमान के भूखण्डों को ध्यान में रखकर अफ्रिकाखण्ड से जोड़ने पर वे अधिकतम समाविष्ट होकर भूमि एक सुन्दर मण्डलाकार के रूप में परिलक्षित होती है। इस प्रकार मण्डलाकार भूभाग में भरतखण्ड भी एक है, जो अरह (अरब), सुमेरुपर्वत (ईजिप्ट-मिश्रराष्ट्र)-इराक देशों का बहुभाग भूप्रदेश, इरान (पारसनाथ का विहारस्थल) पारसी-पार्सदेश, अफघन (बाहुबली का पोदनपुर) अरहन्देश, जिन-चिन-चीन, बर्मा आदि आर्यखण्ड के सभी भू-प्रदेशों में आदिब्रह्मा आदिनाथ ने विहार किया था। इनके उपरान्त भी अजितनाथ आदि अन्य सभी तीर्थंकरों ने भी भरतार्य खण्डों के सभी भूप्रदेशों में विहार कर जिनधर्म का उपेदश-प्रचार-प्रसार किया था, परन्तु किसी अमुक काल में भूभाग प्रकृति के प्रकोप से खण्ड-खण्ड होकर अनेक उप-प्रदेश बना, जो अफ्रीका एवं ईजिप्टदेशों से लेकर अरब, इरान्, अफगान, पाकिस्तान, भारत, चीन, बर्मा आदि देशों तक विस्तृत हुआ है। वही प्रायः भरतार्यखण्ड होना चाहिये। यद्यपि यह बताना कठिन है कि किस तीर्थंकर के समय का भूखण्ड का विस्तार क्या था, तथापि महावीर तीर्थंकर के समय के भूखण्ड के विस्तार के विषय में अवश्य बता सकते हैं, जो जैनपुराण ग्रन्थों में यत्र-तत्र वर्णित महावीर तीर्थंकर के तीर्थप्रवर्तन के विवरणों से प्राप्त होता है। उसी आधार पर सम्पूर्ण उत्तर-दक्षिण के प्रदेशों में भगवान् महावीर तीर्थंकर का विहार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, परन्तु भारत की सीमा तक के ही प्रमाण प्राप्त होते हैं। भारत की सीमा से बाहर के प्रदेशों के विहार के उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के समय द्वारिका नगरी समुद्र में डूबने की घटना से भी यह स्पष्ट होता है कि नेमिनाथ भगवान् के समय भरतार्यखण्ड अखण्ड जम्बूद्वीप में विभाजित हुआ। इस प्रकार भरतार्यखण्ड की व्यापकता बर्मा देश से लेकर भारत, चीन, पाकिस्तान, ग्रीस, रोम, मिश्रराष्ट्र तक व्याप्त थी।

इस प्रकार यह दृढ़ता से कह सकते हैं कि जैनधर्म भरतार्यखण्डों में दृढ़ता से व्याप्त हुआ था। जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव के युग से लेकर बाद के युगों तक इस्रेल, ईजिप्ट देश से लेकर बर्मा देश तक

व्याप्त हुआ था। इसके फलस्वरूप अरह, अरब, अल्लाह, इरान्, हाज्, अराफत्, अफगान, पारस, नेमेस्, रमदिन्, मक्का, रेषफ आदि प्राकृतभाषा में प्रचलित थे, जो भिन्न-भिन्न रूपों में भी प्रचलित हुए थे। इसके अतिरिक्त ग्रीकदेश के कुछ भूगर्भ से आज भी जिनमूर्तियाँ यत्र-तत्र उपलब्ध हो रही हैं। इससे यह दृढ़ता से कह सकते हैं कि जैनधर्म विश्वव्यापी था।

उपर्युक्त प्रमाण एवं विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि प्राकृत और जैनधर्म इनके बीच अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध था, जो आदिनाथ वृषभ भगवान् से लेकर आज तक भी जनमानस के धड़कन के रूप में रूढि से आया हुआ है।

जैनधर्म के तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि भी सर्वार्धमागधी नामक प्राकृत भाषा में थी। यह तथ्य है कि यही भाषा कालान्तर में किंचित् परिवर्तित होने पर भी उसने अपना मौलिकरूप नहीं खोया। इसी भाषा से जगत् की सभी भाषाएं निर्गमित हुई हैं। इसी बात को वाक्पतिराजा ने गउडवहो महाकाव्य में पुष्ट किया है कि:-

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ चिय जलाइं॥

अर्थात् जिस प्रकार सागर का ही पानी बादल बनकर बरसता है। वही बारिस का पानी धरती के कई जगहों पर संकलित होकर विश्व की कावेरी, गंगा, यमुना आदि सभी नदियों के नाम पाकर पुनः सागर में प्रवेश करता है। उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत भाषा से ही निर्गमित होकर विविध प्रादेशिकता के कारण शौरसेनी, मागधी आदि नाम पाकर भी पुनः प्राकृत भाषा में ही विलीन हो जाती हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्राकृत भाषा ही विश्व की मूलभाषा थी, जिसको भारोपीय एवं भारतीय आर्यभाषाओं की मूल या जननी कहने से कोई बाधा उत्पन्न ही नहीं होगी, क्योंकि सभी भाषाओं के साथ किसी न किसी प्रकार का संबद्ध है। एतत्कारण प्राचीन काल में लौकिक प्राकृत भाषा ही विश्व की भाषा थी। पूर्वोक्त गाथा से अधिक स्पष्ट होता है।

प्राकृतभाषा आज भी जीवन्त अस्तित्व में है। भविष्य में भी जीवन्त रहती है। यह प्राकृत भाषा अमरभाषा ही है। अर्थात् देवभाषा नहीं।

अपेक्षाकृत देवभाषा भी है। कभी भी नष्ट नहीं होने वाली एवं अविनाशी अमरभाषा है। जैसे- बर्मा, नेपाल, ढाका, उत्तर भारत, बंगाल, बिहार, मध्य भारत, पश्चिम भारत, पाकिस्तान, मध्य एशिया, पश्चिम एशिया, यूरोपियन के निकटवर्ती भागों में प्रचलित जनबोली और साहित्यिक- प्रौढ़ भाषाएँ उत्तरकाल की प्राकृतभाषा ही थे। उदाहरणार्थ- जिस प्रकार आज कन्नड भाषा प्राचीन रूप में न होकर नवीन कन्नड़ भाषा के रूप में अस्तित्व में है, उसी प्रकार पश्चिम एशिया से लेकर बर्मा तक के देशों में बोलचाल के रूप में प्रचलित भाषाएँ अर्वाचीन प्राकृत ही हैं। अतएव प्राकृत भाषा शाश्वत एवं अमर है तथा नवीन रूपों में नव-नवीन रूपों में परिवर्तित होकर सर्वदा अस्तित्व में रहती है।

प्राकृत भाषा-जनबोली उस- उसकाल में जिनभाषा अर्थात् तीर्थंकरों की भाषा के रूप में धार्मिकता में भी प्रवेश किया। अतएव यह प्राकृतभाषा कदाचित् देवभाषा का रूप को भी प्राप्त किया। उदाहरणार्थ- भगवान् आदिनाथादि महावीरपर्यंत सभी तीर्थंकर तथा गौतमबुद्ध ने भी धर्म के मर्म को समझाने वाला दिव्यस्वरूप इस महामानव की भाषा के रूप में देवभाषा का महत्त्व प्राप्त किया था। अनन्तरकाल में वही (मौर्यादि राजाओं के काल में) राष्ट्रभाषा के स्थान को भी प्राप्त करके उत्तरोत्तर धार्मिक साहित्य एवं मनोरंजन हेतु नाटक-सट्टक, काव्य, कोश, अलंकार, कला, पुराण आदि लौकिक साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग किया गया। तत्पश्चात् अपभ्रंश के रूप को प्राप्त कर धार्मिक और लौकिक दोनों साहित्य में प्रयोग किया गया। यह अपभ्रंश भाषा भी आधुनिक भारत की विविध क्षेत्रीय भाषा बनी। इस प्रकार विस्तृत होने पर भी इस प्राकृतभाषा को मात्र भारत तक ही सीमित करना बड़ा प्रमाद होगा, क्योंकि यह प्राकृत भाषा भारत में अस्तित्व में रहने पर भी पश्चिम एशिया, मध्य एशिया, चीनादि देशों में विस्तृत प्रयोग में थी, जिसका निदर्शन के रूप में उपरोक्त उल्लेख ही सूचक है। आज भी वह परिवर्तित बोलचाल में प्रचलित है। इस प्रकार प्राकृत भाषा का सूक्ष्मता से अध्ययन करने से यह सिद्ध होता है कि प्राकृत भाषा की व्यापकता के विषय में कोई भी संदेह उद्भव ही नहीं होता है। यह भाषा वर्षों पूर्व सामान्य लोगों के बोलचाल की भाषा थी। उसी को परिमार्जित कर

वैदिक भाषा बनाई गयी। तत्पश्चात् यही परिष्कृत और परिमार्जित रूप प्राप्त करके संस्कृत भाषा बनी।

ईजिप्ट के उत्खनन में एक दिगम्बर जैन नग्नमूर्ति प्राप्त हुई थी, जिसे रेषफ् नाम से पुकारा जाता था। यह नाम जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का ही है। इसी प्रकार रसिया, ग्रीक, मेक्सिको, कनाडा, थाईलैण्ड, बर्मा, इण्डोनेशिया, श्रीलंका देशों में भी दिगम्बर जैन नग्नमूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि जैनधर्म सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त तथा यह जैनधर्म प्रागैतिहासिक है।

पुरातत्त्वों का सूक्ष्मतया परिशीलन करने से विविध देशों के सर्वोत्कृष्ट धार्मिक एवं सांस्कृतिक संकेत परिलक्षित होते हैं। उन परिशीलन में तथा जैनधर्म के अनुसार सिद्धपरमेष्ठी धार्मिक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट पद पर स्थित हैं। सिद्धशिला या सिद्धलोक ही इनका निवास स्थान है। जैनधर्म के अनुसार सर्व मुक्त जीव सिद्ध परमात्मा इसी पर स्थित रहते हैं। जैनधर्म की अपेक्षा यह सिद्धशिला ही सभी जीवों के लिए सर्वोत्कृष्ट सुख का धाम है। जैनधर्म में सिद्धशिला अर्धचन्द्राकार के रूप में चिह्नित है और उस पर भी जो ज्योति या नक्षत्र उल्लेखित है, वह सिद्धों की उपस्थिति का ही द्योतक है। यह चिह्न अनादिकाल से है। यह आश्चर्य प्रतीत होता है, वास्तव में इस प्रकार के चिह्न प्रस्तुत में विश्व के सर्वधर्मों में किसी न किसी संकेत रूप में हैं, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने-अपने धर्मस्थान तथा राष्ट्रध्वज में चिह्नित है। इससे जैनधर्म की प्राचीनता एवं व्यापकता सिद्ध होती है।

इस्लाम धर्म में भी अर्धचन्द्र और उस पर एक बिन्दु है, जिसे वे भी अपने धर्म का एकमात्र विशिष्ट संकेत के रूप में मानते हैं। यही संकेत चीनी देश का कम्यूनिष्टध्वजा में भी प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि राष्ट्रों की ध्वजाओं में भी नक्षत्र का चिह्न चिह्नित है। यह चिह्न नयनों को आनन्द देने वाले चित्रों के रूप में चिह्नित नहीं है, अपितु एक सर्वोत्कृष्टता, सर्वोत्कृष्टपद, शाश्वतसुख, कर्म-संसार के दु:खों से मुक्ति स्थान प्राप्त मुक्तजीवों के संकेत के रूप में चिह्नित है।

अतएव प्राय: अधिकतम राष्ट्रों के ध्वजाओं में यही चिह्न चिन्हित

दिखाई देता है। ऐसे दिव्य, भव्य, मुक्तजीव अर्थात् सिद्ध-निराकार परमात्माओं का द्योतक है। इस कारण से इन नक्षत्र वाले ध्वजा को जमीन पर रखना, अपमानित करना, फाड़ना, ध्वस्त करना, उसको चढ़ाने और उतारने का जो समयप्रज्ञा का ध्यान न रखना अपराध एवं देशद्रोह माना जाता है।

कई राष्ट्रों की ध्वजाओं में पूर्णचन्द्र भी है, जो परिपूर्णता अर्थात् कृत्यकृत्यता-सार्थकता, कर्ममुक्त जीवन की परिपूर्णता, स्वतंत्रता, बन्धमुक्तता, उज्वलता, प्रकाशमान, प्रभास्वरूप, प्रभासमान, उदयमानसूर्य, दैदीप्यमाननक्षत्र, इन सभी का प्रतीक है।

इस प्रकार एक देश अथवा राष्ट्र की सर्वांगीण स्वतन्त्रता भौतिकता से पूर्ण नहीं होती, अपितु तात्त्विकता के धरातल पर साधनारूढ होने पर ही साध्यसिद्ध होती हे। ये संकेत यह उद्घोषित करते हैं कि शाश्वतसुख-मोक्षसुख प्राप्त करना ही मानवता का चरमध्येय है। तात्त्विक स्वतन्त्रता ही सामान्य स्वतंत्रता से श्रेष्ठ है। यह संकेत मानवता की संस्कृति की परिभावना है।

इस प्रकार जैनधर्म विश्वव्यापी धर्म था। परन्तु कालान्तर में इसी जैनधर्म से वैदिक परम्परा आदि भिन्न-भिन्न, मत, परम्पराएं उद्भव हुए, जिन्हें धर्म मानकर प्रचाार-प्रसार किया गया। वही शाखोपशाखाओं के रूप में मतान्तरित हुए। वास्तव में **अहिंसा परमो धर्मः** ही सभी जीवों का हित करने वाला एक ही धर्म है। अन्यमत जीवों का हित करने में समर्थ नहीं है। अतएव जैनशासन की **त्रैलोक्यहितकर्तृणां जिनानामेव शासनम्** के रूप में उद्घोषणा है।

संदर्भ :

1. इन्ट्रोडक्शन टु, अर्धमागधी- प्रो. ए. एम.घाटगे, पूना
2. अर्धमागधी- डॉ. ए.एन. उपाध्ये, प्रसारांग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर
3. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान- डॉ. हीरालाल जैन, जयपुर कन्नड अनु. - मिर्जी अण्णाराय, कर्नाटक
4. कान्फुयेन्स ऑफ आफोसिट्स- बैरिस्टर चम्पतराय जैन, कलकत्ता।
5. प्राकृत साहित्य का इतिहास- डॉ. जगदीश चन्द्र जैन
6. सिद्ध-हैम-शब्दानुशासन- प्रो. पी. एल. वैद्य, बी.ओ.आर.आय. मुम्बई 1970

7. जैनधर्म और इतिहास- पं. जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवामंदिर, दरियागंज, दिल्ली
8. जैनधर्म- पं. कैलाशचन्द जैन
9. जैनिजम् दी ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन- डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, वाराणसी
10. विश्वधर्मद रूपरेषेगळु- मूल.-राष्ट्रसंत आचार्य विद्यानंद जी मुनिराज कन्नड़ अनुवाद- डॉ. एन. सुरेश कुमार, मैसूर
11. रिलिजन एण्ड कल्चर आफ दी जैन- डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1975
12. बाहुबली की राजधानी तक्षशिला-मूल.- आचार्य विद्यानंद जी महाराज, कन्नड अनुवाद- डॉ. सरस्वती विजय कुमार, मैसूर

- **प्राध्यापक,**
जैनशास्त्र एवं प्राकृत अध्ययन विभाग,
मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर (कर्नाटक)

नोट - (मूलकन्नड आलेख का हिन्दी अनुवाद डॉ. शान्तिसागर शास्त्री अतिथि व्याख्याता, जैनशास्त्र - प्राकृत अध्ययन विभाग मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर द्वारा किया गया है। अनुवादक को हार्दिक बधाई। - संपादक)

जैन परम्परा पोषित, भाव विशुद्धि की प्रक्रिया और ध्यान

- प्रो. अशोककुमार जैन

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म प्राचीनतम धर्म है। इसमें अध्यात्म की प्रधानता है। जब संसारी जीव मिथ्यात्व का त्याग कर देता है तथा शरीरादि परद्रव्यों से विमुख होकर आत्मोन्मुख होता है तो उसके परिणामों में विशुद्धता वृद्धिंगत होती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में लिखा है-

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो॥ प्रव.सार 1/8

द्रव्य जिस समय में जिस भावरूप से परिणमन करता है उस समय उस रूप है, इसलिए धर्म परिणत आत्मा को धर्म जानना चाहिए।

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥ प्रव.सार 1/9

जीव जब शुभ भाव से परिणमन करता है तब स्वयं शुभ होता है वही जब जब अशुभ भाव से परिणमन करता है तब स्वयं ही अशुभ होता है और जब वही शुद्ध भाव से परिणमन करता है तब स्वयं शुद्ध होता है क्योंकि वह परिणमन स्वभाव वाला है। भावपाहुड में वर्णन है-

भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंग च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति॥ गाथा 2

भाव ही प्रथम लिङ्ग है, द्रव्य-लिङ्ग, परमार्थ नहीं है अथवा भाव के बिना द्रव्यलिङ्ग परमार्थ की सिद्धि करने वाला नहीं। गुण और दोषों का कारण भाव ही है ऐसा जिनेन्द्र भगवान जानते हैं।

भावविसुद्धिणिमित्तं वाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
वाहिरचाओ विहलो अब्भगंथस्स जुत्तस्स॥ भावपाहुड 3

भावों की विशुद्धि ने लिए परिग्रह का त्याग किया जाता है। जो अंतरंग परिग्रह से सहित है उसका बाह्य त्याग निष्फल है।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लुह चउगह चइऊणं जइ इच्छत सासयं सुक्खं॥ भावपाहुड 60

हे मुनिवर ! यदि तुम चारों गतियों को छोड़कर अविनाशी सुख की इच्छा करते हो तो शुद्ध भावपूर्वक अत्यन्त विशुद्ध और निर्मल आत्मा का ध्यान करो।

आत्मा भावना का भावयिता सतत आत्मा में वास करता है, वह आध्यात्मिक वैभव से सम्पन्न है, रत्नत्रयमय है। वीतरागता को धारण करने वाला ज्ञानी भव्यात्मा है। आत्मधर्म को स्वीकार करने वाला है। स्वाश्रित धर्म की उपादेय है, आगम इसे ही मान्यता देता है। देहाश्रित, क्षेत्राश्रित आदि अवस्थाओं को आत्मधर्म से भिन्न माना गया है।
आचार्य पूज्यपाद कहते हैं-

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वं संकल्पवर्जितम्॥ समाधिशतक 27

आचार्यदेव मुमुक्षु जीव को सम्बोधित करते हैं कि संकल्प-विकल्प की लहरें जब तक चित्त को विद्यमान रहेंगी, तब तक नाना भाव बनते रहेंगे, उस क्षण परमात्मा का ध्यान नहीं हो सकता। आत्म साधक को समस्त द्वन्द्वों से परे होकर स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। जब तक निज स्वरूप का ध्यान नहीं होता, तब तक पञ्चपरमेष्ठी का सतत चित्त में ध्यान करना चाहिए क्योंकि इससे अंतःकरण की विशुद्धि होती है साधना की रक्षा हेतु सर्वप्रथम प्रारब्ध साधक के लिए चित्त पर नियन्त्रण करना अनिवार्य है। जो मात्र शरीर को निमंत्रित करता है। परन्तु मन पर कोई नियंत्रण नहीं रखता, वह अल्प समय का ही साधक है।

ज्ञान वैराग्य के द्वारा मन को स्थिर करना चाहिए। चित्त/मन के विषय को बदल देना चाहिए। जो मन अशुभ विषयों में प्रवृत्त है, उसे शुभ की ओर लगाना चाहिए। यह ध्रुव सत्य है कि मन स्थिर हुए बिना कर्मातीत अवस्था नहीं हो सकती।
तत्त्वसार में लिखा है-

समणे णियच्चलमूए णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे।
थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो॥ 1/7

अपने मन के निश्चयभूत होने पर सर्व विकल्प समूह के नष्ट होने पर विकल्परहित। निर्विकल्प, निश्चय, नित्य शुद्ध स्वभाव स्थिर होता है। चित्त में स्थिर होने से योगियों को ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति अवश्य ही होती है।

चित्त में स्थिरता के लिए कषायों का त्याग अनिवार्य है। स्वरूप सम्बोधन में लिखा है-

कषायैः रंजितं चेतस्तत्त्वं नैवावगाहते।
नीलीरक्तेऽडम्बरे रागो दुराधेयो हि कौड्कुमः॥ 17।।

कषायों से रंजित चित्त तत्त्व का अवगाहन नहीं कर सकता। नीले रंग के कपड़े पर कुंकुम का रंग निश्चित ही नहीं चढ़ सकता। प्रवचनसार में वर्णन है-

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं॥ 1/79

पाप का कारण आरम्भ को छोड़कर अथवा शुभ आचरण में प्रवर्तता हुआ जो पुरुष यदि मोह, राग, द्वेषादिकों को नहीं छोड़ता है वह पुरुष शुद्ध अर्थात् कर्मकलङ्क रहित शुद्ध जीव द्रव्य को नहीं पाता।

आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है-

मा मुज्झह मा रज्जहं मा इसहं इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पिसिद्धीए॥

- द्रव्यसंग्रह गा. 48

हे भव्यजनो! यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान अथवा विकल्प रहित ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट रूप जो इन्द्रियों के विषय हैं उनमें राग, द्वेष और मोह को मत करो।

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जामदि विविहो बंधो तम्हा तं संखवइयव्वा। प्रव.सार 1/84

मोह भाव से अथवा राग भाव से अथवा दुष्ट भाव से परिणमते हुए जीव के अनेक प्रकार कर्मबन्ध उत्पन्न होता है इसलिए वे राग, द्वेष और मोह भाव मूल सत्ता से क्षय करने योग्य है।

आचार्य पूज्यपाद आत्मा के भेदों को निरूपित करते हुए कहते हैं-

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधाऽऽत्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्मोपायाद्बहिस्त्यजेत्।। समाधिशतक 4

सर्व प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस तरह तीन प्रकार की आत्मा है। उनमें से बहिरात्मपने को छोड़ना चाहिए और अन्तरात्मा रूप उपाय से परमात्मपने का साधन करना चाहिए।

जीवों में जो मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान बताये हैं उनमें पहले तीन गुणस्थान तक के जीव तो बहिरात्मा है अर्थात् मिथ्यात्व सासादन, मिश्र, गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा है। अविरत सम्यग्दृष्टि नाम के चौथे गुणस्थान से लगाकर क्षीणमोह नाम के बारहवें गुणस्थान तक के जीव अन्तरात्मा हैं। उनमें चौथे गुणस्थान वाले जघन्य, पांचवें व छठे गुणस्थान वाले मध्यम तथा ध्यान में लीन सातवें से बारहवें गुणस्थान वाले जीव उत्तम अन्तरात्मा है। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान वाले जीव शरीर सहित परमात्मा हैं तथा सिद्ध शरीर रहित परमात्मा है।

आत्मा का शुद्ध स्वभाव अर्थात् परमात्म अवस्था ही उपादेय है तथा उसकी प्राप्ति के लिए जो अन्तरात्म अवस्था है, वह भी साधन रूप में उपादेय है। अतएव भव्य जीव को मिथ्याबुद्धि छोड़कर यथार्थ बात को जानकर अपनी निर्मल शक्ति का ध्यान करना चाहिए।

जैन सिद्धान्त में तीन प्रकार के उपयोग कहे गये हैं। वे हैं शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। प्रवचनसार में लिखा है-

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वासुहं सहोवजुत्तो व सग्गसुहं।। 1/11

जब यह आत्मा धर्म-परिणत स्वभाव वाला होकर शुद्धोपयोग रूप परिणति को धारण करता है तब विरोधी शक्ति (राग भाव) से रहित होने के कारण अपना कार्य करने में समर्थ चारित्र वाला हुआ साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है किन्तु जब वही आत्मा धर्मपरिणत स्वभाव वाला होता हुआ भी शुभोपयोग रूप परिणति से युक्त होता है- सराग चारित्र को धारण करता है- तब विरोधी शक्ति (राग भाव) से सहित होने के कारण अपना कार्य करने में असमर्थ व कथंचित् विरुद्ध कार्य करने वाले चारित्र

से युक्त होकर स्वयं सुखरूप बन्धन को प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ- जैसे अग्नि से सन्तप्त घी से सिक्त जला हुआ पुरुष जलन से दु:ख को प्राप्त करता है इसलिए शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।

छठे से बारहवें गुणस्थान तक के मुनि को अभेददृष्टि से चारित्र परिणत आत्मा कहते हैं। उसी को भेद-दृष्टि के सातवें से बारहवें तक शुद्धापयोगी या वीतराग चारित्र का धारी कहते हैं जिसका फल साक्षात् मोक्ष है और छठे में शुभोपयोगी या सराग चारित्र वाला कहते हैं जिसका फल (परम्परा मोक्ष होने पर भी) साक्षात् पुण्यबंध रूप स्वर्ग है। इस सम्बन्ध में कथञ्चित् शब्द ध्यातव्य है।

शुद्धोपयोग परिणत आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है-

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणियो सुद्धोवओगो त्ति॥

प्रवचनसार 1/14

इस गाथा में पांच विशेषणों से युक्त श्रमण शुद्धोपयोगी कहा जाता है वे इस प्रकार है-

1. सूत्रों के अर्थ के ज्ञान के बल से स्व द्रव्य और पर द्रव्य के विभाग के परिज्ञान में, श्रद्धान और विधान में समर्थ होने के कारण से भलीभांति जान लिया है पदार्थों को जिसने।
2. समस्त छह जीव निकाय के हनन के विकल्प से और पंचेन्द्रिय (सम्बन्धी) अभिलाषा के विकल्प से (आत्मा) को व्याकृत करके आत्मा के शुद्ध-स्वरूप संयम करने से संयम-युक्त हैं।
3. स्वरूप विभ्रान्त निस्तरंग चैतन्य प्रतपन होने से जो तपयुक्त है।
4. सकल मोहनीय के विपाक से भेद की भावना की उत्कृष्टता से निर्विकार आत्मस्वरूप को प्रगट किया होने से जो वीतरागी है।
5. परम कला के अवलोकन के कारण (आत्मा में लीनता के कारण) साता वेदनीय और असातावेदनीय के विपाक से उत्पन्न होने वाले जो सुख दु:ख - उन सुख-दु:ख जनित परिणामों के विषमता का अनुभव नहीं होने से जो समसुख-दु:ख है। यह शुद्धोपयोग मुख्यतया बारहवें गुणस्थान में परिणत मुनि के होता है परन्तु गौणतया सातवें से बारहवें गुणस्थान तक

के मुनि के होता है।

जो उपयोग विशुद्ध है उसके समस्त ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय के नष्ट हो जाने से निर्विघ्न विकसित आत्मशरणवान् स्वयमेव होता हुआ सब पदार्थों को जान लेता है। भाव यह है कि सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग प्रारम्भ हो जाता है। फिर प्रत्येक गुणस्थान में उसकी शक्ति बढ़ती चली जाती है जिस दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म प्रायः नष्ट जाता है। जब वह शुद्धोपयोग पूर्ण क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है तो उस शुद्धता में शेष तीन घातिया कर्मों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। घातिया कर्मों के नष्ट होने पर स्वभाव स्वयं प्रगट हो जाता है और आत्मा सर्वज्ञ बनकर सब ज्ञेयों को जान लेता है।

शुभोपयोग के वर्णन में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं-

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥ प्रवचनसार 1/69

देव, यति और गुरु की पूजा में, दान में तथा सुशीलों में और उपवासादिकों में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

जो सर्व दोष रहित परमात्मा है, वह देवता है, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध आत्मा के स्वरूप में साधन में उद्यमवान् है वह यति है। जो स्वयं निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय का आराधना करने वाला है और ऐसी आराधना के इच्छुक भव्यों को जिन दीक्षा का देने वाला है वह गुरु है। इन देवता और गुरुओं की तथा उनकी मूर्ति आदिकों की यथासम्भव द्रव्य और भावपूजा करना, आहार, अभय, औषधि और विद्यादान ऐसा चार प्रकार का दान करना, शीलव्रतों को पालना तथा जिनगुण सम्मत्ति को आदि लेकर अनेक विधि विशेष से उपवास आदि करना, इतने शुभ कर्मों में लीनता करता हुआ तथा द्वेष रूप भाव व विषयों के अनुराग रूप भाव आदि अशुभ उपयोग से विरक्त होता हुआ जीव शुभोपयोगी होता है।

यहाँ आचार्य ने शुद्धोपयोग में प्रीतिरूप शुभोपयोग का स्वरूप बताया है अथवा अरहंत सिद्ध परमात्मा के मुख्य ज्ञान और आनन्द स्वभावों का वर्णन करके उन परमात्मा ने आराधन की सूचना की है

अथवा मुख्यता से उपासक का कर्त्तव्य बताया है। शुभोपयोग तीव्र कषायों के अभाव में होता है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने लिखा है-

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः॥

स्वयंभूस्तोत्र 5

वह जगत को देखने वाले, साधुओं से पूजनीय पूर्ण ज्ञानमय देह के धारी, निरञ्जन व अल्पज्ञानी अन्यवादियों के मत को जीतने वाले श्री नाभिराज के पुत्र श्री वृषभ जिनेन्द्र मेरे चित्त को पवित्र करो। भावों की निर्मलता होने से जो शुभ राग होता है, वह तो अतिशय पुण्यकर्म को बांधता है, जो मोक्ष-प्राप्ति में सहकारी कारण होते हैं। जैसे तीर्थंकर, उत्तमसंहनन आदि। शुभोपयोग में वर्तन करने से उपयोग अशुभोपयोग से बचा रहता है तथा यह शुभोपयोग शुद्धोपयोग में पहुंचने के लिए सीढ़ी है। इसलिए शुद्धोपयोग की भावना करते हुए शुभोपयोग में वर्तना चाहिए। वास्तव में शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि में ही होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग को इस बात में उपादेय मानकर उसी की भावना से प्राप्ति के लिए अरहंत भक्ति आदि शुभोपयोग मार्ग में वर्तना चाहिए।

पुण्यजन्य इन्द्रिय सुख में अनेक प्रकार से दुःख को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है-

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा। प्रवचनसार 1/76

अर्थात् पर सम्बन्ध-युक्त होने से, बाधा सहित होने से, विच्छिन्न होने से, बन्ध का कारण होने से, विषम होने से पुण्य-जन्य भी इन्द्रिय सुख दुःखरूप ही है।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो॥ प्रवचनसार 1/77

इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है इस बात को जो नहीं मानता है वह मोह से आच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

विशेष यह है कि द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप में व्यवहारनय से भेद है। भाव पुण्य और भाव पाप में तथा पुण्य के फलस्वरूप सुख और दु:ख में अशुद्ध निश्चयनय से भेद है परन्तु शुद्ध निश्चयनय के ये द्रव्यनय पापादिक सब शुद्ध आत्मा ने स्वभाव से भिन्न हैं, इसलिए इन पुण्य पापों में कोई भेद नहीं है। इस तरह शुद्ध निश्चय नय से पुण्य व पाप की एकता को जो कोई नहीं मानता है वह इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, कामदेव आदि ने पदों के निमित्त निदान बन्ध से पुण्य को चाहता हुआ मोह रहित शुद्ध आत्मतत्त्व से विपरीत दर्शन मोह तथा चारित्र मोह से ढका हुआ सोने और लोहे की बेड़ियों ने समान पुण्य-पाप दोनों से बंधा हुआ संसार रहित शुद्धात्मा से विपरीत संसार में भ्रमण करता है।

मोह के नाश के उपाय के सम्बन्ध में लिखा है-

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहि बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधितव्वं।। प्रव.सार 1/86

जिन शास्त्र से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले पुरुष के नियम से मोह समूह नष्ट हो जाता है इस कारण से शास्त्र सम्यक् प्रकार से अध्ययन करने योग्य हैं।

अशुभ उपयोग, विकार रहित शुद्ध आत्म तत्त्व की रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व से तथा उस ही शुद्ध आत्मा में क्षोभ रहित चित्त का वर्तनारूप निश्चय चारित्र से विलक्षण या विपरीत है। विपरीत अभिप्राय से पैदा होता है तथा देखे, सुने, अनुभव किये हुए पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छामय तीव्र संक्लेश रूप है, ऐसे अशुभ उपयोग से जो पाप कर्म बांधे जाते हैं, उनके उदय होने से यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध आत्मा के आनन्दमयी पारमार्थिक सुख में विरुद्ध दु:ख से दु:खी होता हुआ व अपने स्वभाव की भावना से गिरा हुआ संसार में भ्रमण करता है। अशुभ के उदय से आत्मा हीन मनुष्य, तिर्यञ्च या नारकी होकर हजारों दु:खों से निरंतर पीड़ित होता हुआ संसार में अत्यन्त दीर्घ काल तक भ्रमण करता है।

विशुद्ध ध्यान कब होता है इस सम्बन्ध में चारित्रप्राभृत में लिखा है-

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते॥ गाथा 15

हे जीव ! तू वस्त्रादि परिग्रह का त्याग होने पर दीक्षा में प्रवृत्त हो और उत्तम संयम भाव के होने पर सुतप में प्रवृत्ति कर। जो मनुष्य निर्मोह होता है उसी के वीतरागता होने पर उत्तम विशुद्ध ध्यान होता है।

द्रव्यसंग्रहकार लिखते हैं-

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं॥ गाथा 56

हे ज्ञानीजनो ! तुम कुछ भी चेष्टा करो अर्थात् काम के व्यापार को मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो जिससे कि तुम्हारा आत्मा अपने आत्मा में तल्लीन स्थिर होवे, क्योंकि जो आत्मा में तल्लीन होता है वही परम ध्यान है।

आचार्य जिनसेन के अनुसार-

योगो-ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः॥ आदिपुराण 21/1

योग, ध्यान, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धि की चञ्चलता रोकना, स्वान्तनिग्रह, अर्थात् मन को वश में करना और अन्तःसंलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना आदि सब ध्यान के पर्यायवाचक शब्द हैं।

सर्वार्थसिद्धि में भी योग को समाधि कहा गया है। चित्तविक्षेप के त्याग अथवा एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। इष्टानिष्ट बुद्धि के हेतु मोह का छेद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है उस चित्त की स्थिरता को ध्यान करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है-

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो ण योगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अग्गी॥

(पंचास्ति. गा.146)

जिसके राग, द्वेष, मोह नहीं है तथा जो मन, वचन, काय रूप योगों के प्रति उपेक्षा बुद्धि वाला है उस जीव के शुभाशुभ कर्मों को जलाने वाली ध्यान रूपी अग्नि उत्पन्न होती है।

जो इच्छइ निस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स संदस्स।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्दं।। मोक्षप्राभृतम् 26

जो मुनि अत्यन्त विस्तृत संसार महासागर से निकलने की इच्छा करता है वह कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाले शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं।
लोय ववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो।। मोक्षप्राभृत 27

ध्यानस्थ मुनि समस्त कषायों और गारव मय रागद्वेष तथा व्यामोह को छोड़कर लोकव्यवहार से विरत होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है।

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य को मन, वचन, काय रूप त्रिविध योगों से जोड़कर जो योगी मौनव्रत से ध्यानस्थ होता है वही आत्मा को द्योतित करता है- प्रकाशित करता है, आत्मा का साक्षात्कार करता है।

मूलं शुद्धोपयोगः परमसमरसीभावदृक्स्कन्धबन्धः
शाखा सम्यक्चरित्रं प्रसृमरविलसत्पल्लवाः क्षान्तिभावाः।।
छाया शान्तिः समन्तात्सुरभितकुसुमः श्रीचिदानन्दलीला,
भूयात्तापोपशान्त्यै शिवसुखफलिनः संश्रयो योगिगम्यः।।

- वैराग्यमणिमाला 24

जिस वृक्ष की जड़ें शुद्धपयोग की हैं, जिसका श्रेष्ठ समताभाव तथा श्रद्धारूपी तना है, जिसमें सम्यक्चारित्र की शाखायें हैं, जिसमें समताभाव के कोमल सुन्दर पत्ते हैं, जिसकी सर्वत्र शान्तिरूपी छाया है, ऐसा योगियों द्वारा प्राप्य शिवसुखरूपी वृक्ष का आश्रम संसार के ताप की शान्ति के लिए हो।

सिद्धिश्रीसंङ्गसौख्यामृतरसभरितः सच्चिदानन्यरूपः।
प्राप्तः पारं भवाब्धेर्गुणमणिनिकरोद्भूरिरत्नाकरोऽपि।।
चैतन्योल्लासिलीलासमयमुपगतः प्राप्तसम्पूर्णशर्मा,
योगीन्द्रैर्बोधिलब्धः परमसमरसीभावगम्यः सुरम्यः।।

- वैराग्यमणिमाला 25

जो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के संग से उत्पन्न होने वाले सुखरूपी अमृत से भरा हुआ है, सत् चित् आनन्द रूप है, संसार सागर के पार को प्राप्त है, गुणरूपी मणिसमूह की उत्पत्ति के लिए विशाल रत्नाकर समुद्रस्वरूप होकर भी, चैतन्यगुण की उत्तम लीला के समय को प्राप्त है, जिसने समस्त सुख प्राप्त कर लिया है, बड़े-बड़े योगी जिसे रत्नत्रय द्वारा प्राप्त करते हैं और जो अतिशय रमणीय है ऐसा शुद्धात्मा परमसमरसीभाव मोह क्षोभ से रहित शुद्धात्म परिणति से प्राप्त किया जा सकता है।

- आचार्य, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग
संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

समयपाहुड

वंदित्तु सव्व सिद्धे धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं॥1॥

मैं ध्रुव (शाश्वत), अमल (द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित), अनुपम (उपमा रहित) गति को प्राप्त सब सिद्धों को वन्दन करके श्रुत केवली द्वारा भणित (प्रतिपादित) इस समयपाहुड को कहूँगा।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पुग्गल कम्मुवदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥2॥

जो जीव निश्चय से चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित (परिणत) है, उसको स्वसमय जानो और पुद्गल कर्म के उपदेश में स्थित (जीव) को परसमय जानो।

ज्ञानार्णव में वर्णित स्त्री स्वरूप और उनकी युक्ति-युक्तता

-डॉ. सतेन्द्र कुमार जैन

'संसरण इति संसार:' उक्ति के अनुसार इस संसार में प्रत्येक जीव विचरण करता है। इनमें वैराग्य के लिए तीन कारणों को छोड़ना आवश्यक है। संसार, शरीर और भोग। इन तीन कारणों से विरक्ति आने पर ही संसार से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इन तीन कारणों के अन्तर्गत भोगों के प्रसंग में स्त्री भोगों की विरक्ति के प्रसंग में आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में स्त्रियों के दोषों का कथन किया है। पूज्यवर आचार्य शुभचन्द्र जी का आशय स्त्री समूह से विरक्ति का था न कि स्त्रियों की निन्दा से। स्त्रियों के दोषों का कथन करने के प्रमुख आशय तप में श्रेष्ठ, साधुवृत्ति में रत, साधकों को भविष्य में कभी स्त्री संबंधी राग उत्पन्न न हो तथा स्त्रियों में रत श्रावकों को स्त्रियों के स्वरूप का ज्ञान कराकर उन्हें संसार के कारणों से वैराग्य दिलाना है। आचार्य शिवार्य ने स्त्रियों से विरक्ति के संबंध में कहा है कि- काम विकार से उत्पन्न हुए दोष, स्त्रियों के द्वारा किए गए दोष, शरीर की अशुचिता, वृद्धजनों की सेवा तथा स्त्री के संसर्ग से उत्पन्न हुए दोष इनके चिन्तन से स्त्रियों में वैराग्य उत्पन्न होता है।[1]

स्त्री का स्वरूप-

स्त्री शब्द की निष्पत्ति स्त्यै + डप् +ङीप् प्रत्यय लगने से हुई है[2] जिसका अर्थ मादा है। इसी विषय में पंचसंग्रह प्राभृत में कहा है कि-

छादयति सयं दोसेण जदो छादयति परं पि दोसेण।
छादणसीला णियदं तम्हा सा वण्णिया इत्थी॥

अर्थात् जो दोषों से अपने आपको आच्छादित करे और मधुर संभाषण आदि के द्वारा दूसरों को भी दोष से आच्छादित करें, वह निश्चय से आच्छादन स्वभाववाली स्त्री है।[3] मानो ब्रह्मा ने यमराज की जिह्वा, अग्नि

की ज्वाला, वज्र, बिजली और विष के अंकुरों को लेकर इस स्त्री को निर्मित किया है।

ब्रह्मा ने आपत्तियों की वागुरा (मृगों के फँसाने का जाल) स्वरूप जो इस स्त्री की रचना की है, वह मानो उसने कुतूहल से लोक के भीतर रहने वाले प्राणिसमूह को एकत्रित करने के लिए ही की है।[4]

स्त्री के पर्यायवाची शब्दों की सार्थकता-

पुरिसं वधमुवणेदित्ति होदि बहुगा णिरुत्तिवादम्मि।
दोसे संघादिंहि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स॥
तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णोत्ति उच्चदे णारी।
पुरिसं सदा पमत्तं कुणदित्ति य उच्चदे पमदा॥
गलए लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा।
जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा ये॥
अबलत्ति होदि जं से ण दढं हिदयम्मि घिदिबलं अत्थि।
कुम्मरणोपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी॥
आलं जणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा।
एयं महिलाणामाणि होंति असुभाणि सव्वाणि॥[5]

अर्थात् स्त्री वाचक शब्दों की निरुक्ति के द्वारा भी स्त्री के दोष प्रकट होते हैं। पुरुष का वध करती है इसलिए उसे वधू कहते हैं। मनुष्य में दोषों को एकत्र करती है, इसलिए स्त्री कहते हैं। मनुष्य का ऐसा अरि शत्रु दूसरा नहीं है, इसलिए उसे नारी कहते हैं। पुरुषों को सदा प्रमत्त करती है, इसलिए उसे प्रमदा कहते हैं। पुरुष के गले में अनर्थ लाती है अथवा पुरुषों को देखकर विलीन होती है, इसलिए विलया कहते हैं। पुरुषों को दु:ख से योजित करती है, इससे युवती और योषा कहते हैं। उसके हृदय में धैर्यरूपी बल नहीं होता अत: वह अबला कही जाती है। कुमरण का उपाय उत्पन्न करने से कुमारी कहते हैं। पुरुषों पर आल अर्थात् दोषारोप करती है इसलिए महिला कहते हैं। पुरुषों को पतित करती है, इसलिए पत्नी कहलाती है। इस प्रकार स्त्रियों के सब नाम अशुभ होते हैं।

स्त्रियों के आभूषण एवं विरक्ति-

स्त्रियों की साज-सज्जा और सौन्दर्य पुरुषों को आकर्षित करने का

गुण है। स्त्रियाँ अपने मस्तक पर बिन्दी धारण करती हैं, मानो उन्होंने पुरुषों को वशीकरण करने के लिए तिलक धारण किया है। गले में हार पुरुष के मन को हरने के लिए धारण किया है अर्थात् पराजित करने के लिए पहना है। केशों का विघटन करके मानों संस्कारों का त्याग किया है। नूपुर की आवाज से पुरुष को आकर्षित करती है, मानो संसार के सारे कोलाहल के लिए उसे बधिर किया हो। स्त्रियों ने पुरुषों को अपने बाजुओं में बांधने के संकल्प स्वरूप बाजूबंद धारण किया है। स्त्रियों ने अपने मस्तक पर सिन्दूर धारण मानों पुरुषों पर विजय प्राप्ति के सूचक रूप में धारण किया है। इस प्रकार स्त्रियाँ पुरुषों को अपने आधीन करने के लिए ही सारे शृंगार आदि करती हैं, तो पुरुष उनके आधीन होकर अपनी स्वतंत्रता क्यों समाप्त करना चाहते हैं।

स्त्रियों के अंगों की प्रवृत्ति एवं विरक्ति -

कामी स्त्रियों के प्रत्येक अंग काम का प्रदर्शन करते हैं। जिस कारण पुरुष उस पर आसक्त हो जाए। सुदर्शन चरित्र में सुदर्शन सेठ पर वेश्या द्वारा उपसर्ग में कामुक मुद्रा में स्त्रियों के हावभाव का वर्णन किया है। आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है कि कामदेव का निवास स्त्रियों में होता है, मानों कामदेव ने प्राणी समूह को स्त्री रूपी अथाह कीचड़ में डुबा दिया है। मानों कामदेव ने स्त्रियों के माध्यम से प्राणिसमूह को काम से व्यथित किया है। स्त्रियाँ अपने नेत्र के कटाक्ष से पुरुषों के मन को आघात पहुँचाती है, मानों कामदेव ने कटीले नेत्र से उनके पवित्र मन को अशान्त कर दिया है। अपने केश संस्कार से संस्कारित मानी जाने वाली कामी स्त्रियाँ केश बंधन को खोलकर मानों संस्कारों से रहित होकर पुरुषों के मन को आकर्षित कर असंस्कार के समुद्र में डुबो रही है। स्त्री के जघनस्थान में नव लाख जीव होते हैं। जिसका भोग पापकारक है। इस विषय में ज्ञानार्णवकार ने वर्णन किया है -

वरमाज्यच्छटोन्नद्धः परिरब्धो हुताशनः।
न पुनर्दुर्गतेर्द्वारं योषितां जघनस्थलम्॥[७]

अर्थात् घी के समूह से सींची गई अग्नि का आलिंगन करना, चलती हुई चंचल जिह्वावाली क्रुद्ध सर्पिणी का आलिंगन करना कहीं श्रेष्ठ

है, परन्तु नरकादि दुर्गति के द्वारभूत स्त्रियों के जघनस्थान का कुतूहल पूर्वक भी आलिंगन करना अच्छा नहीं है। जिस स्त्री को प्राप्त करके तुझे नरक की वेदना सहनी पड़ेगी। उसकी जब बात करना भी प्रशंसनीय नहीं है, निन्दनीय है। तब भला उसका आलिंगन आदि तो प्रशंसनीय हो ही कैसे सकता है? यह स्त्री वज्राग्नि की रेखा के समान अथवा सर्प की विषैली दाढ़ के समान मनुष्यों को केवल सन्ताप और भय को ही दिया करती है। आलिंगन की गई अग्नि की ज्वाला मनुष्यों के हृदय में वैसे दाह को नहीं देती है। जैसे दाह को यह इन्द्रिय विषयों को कुपित करने वाली स्त्री दिया करती है।[8] ऐसे पापकारक स्थानों का स्पर्श, मन में चिन्तन तथा वचनों से अपलाप करना भी पाप का कारण है।

इसी प्रकार स्त्रियों के स्तन को घृणित तथा अधम गति में ले जाने वाला कहा है -स्त्री के जो दोनों उन्नत स्तन नीचे की ओर झुके रहते हैं, वे मानो यही प्रकट करते हैं कि-स्त्री के शरीर के साथ संयोग को प्राप्त होकर उन्नत पुरुष भी नीचे गिरेगें, अधोगति को प्राप्त होगें। जैसे कि उसके शरीर से संयुक्त होकर हम दोनों (स्तन) भी नीचे गिर गए।[9] स्त्रियों का संस्कार अंजन अर्थात् काजल भी है, जो वश में करने के लिए लगाया जाता है[10] तथा अंजन से स्त्रियों के नेत्र कटाक्ष पूर्ण तथा स्त्रियों के चंचल भावों को प्रदर्शित करने में अक्षम होते हैं अर्थात् उनके चंचल मनो भावों को दबाकर स्त्रियों के कामुक भावों को प्रदर्शित करते हैं। स्त्रियों के अधरोष्ठ काम उत्पत्ति में एक निमित्त है, वह संकेत देता है कि -जिस प्रकार अधरोष्ठ अपरोष्ठ से सदैव प्रताड़ित होता है। उसी प्रकार स्त्री में आसक्त पुरुष सदैव स्त्रियों से प्रताड़ित होता है। आचार्य शिवार्य ने स्त्रियों के द्वारा पुरुषों का अनादर करने के विषय में कहा है कि-

जह जह मण्णेइ णरो तह तह परिभवइ तं णरं महिला।
जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ॥[11]

जैसे-जैसे पुरुष स्त्री का आदर करता है, वैसे-वैसे स्त्री उसका निरादर करती है। जैसे-जैसे मनुष्य उसकी कामना करता है, वैसे-वैसे वह पुरुष की अवज्ञा करती है।

स्त्रियों के भेद-

संसार में स्त्रियाँ जन्म से एक ही तरह की होती हैं, परन्तु जैसे-जैसे उसमें दायित्व और कर्तव्यों का भार आ जाता है, वैसे-वैसे उसमें भिन्नता प्रकट होने लगती है। इस प्रकार स्त्रियों के निम्न प्रकार हैं- **धर्मपत्नी, भोगपत्नी, दासीपत्नी, परस्त्री, वेश्यादि।**

धर्मपत्नी उसे कहते हैं, जो पति के साथ धर्मानुष्ठान आदि सभी धार्मिक क्रियाओं के साथ सांसारिक क्रियाओं में सहभागिता प्रदान करती है। भोगपत्नी में धर्मादि क्रियाओं का अभाव होता है, वे मात्र भोग के साधनों में ही अपना जीवन यापन कर देती हैं। दासीपत्नी वे कहलाती हैं, जिन्हें दासी के पद पर ही स्वामी पुरुष के द्वारा भोगा तो गया है, परन्तु धर्मपत्नी के योग्य पद प्रदान नहीं किया गया है। ये भोगपत्नी से निम्न श्रेणी में अवगणित है। अपनी पत्नी के अतिरिक्त संसार की समस्त स्त्री समूह परस्त्री कहलाती हैं। वेश्या को नगरनारी की संज्ञा भी दी जाती है। ये वेश्याएँ कार्य करने के अनुसार दो प्रकार की कही जाती हैं। प्रथम वर्ग में वे स्त्रियाँ जो राजादि के समस्त नृत्य, गानादि के द्वारा जनसमूह का मनोरंजन किया करती हैं। इनमें भोगों की प्रधानता नहीं होती है। इनके द्वारा शारीरिक व्यापार नहीं किया जाता है। ये मात्र अपनी कला से ही धनोपार्जन किया करती हैं। इनकी प्रधान वेश्या को गणिका कहते हैं तथा द्वितीय वर्ग में वे वेश्याएँ, जो शारीरिक भोग के द्वारा लोगों से धनोपार्जन करती है। इस प्रकार स्त्रियों के कई प्रकार होते हैं।

स्त्रियों के दुर्गुण -

निर्दयता, दुष्टता, मूर्खता, अतिशय चपलता, धोखादेही और कुशीलता ये दोष स्त्रियों के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले हैं।[12] स्त्री रागद्वेष का घर है। असत्य का आश्रय है। अविनय का आवास है। कष्ट का निकेतन है और कलह का मूल है। शोक की नदी है। वैर की खान हैं। क्रोध का पुंज है। मायाचार का ढेर है। अपयश का आश्रय है। धन का नाश करने वाली है। शरीर का क्षय करती है। दुर्गति का मार्ग है। अनर्थ के लिए प्याऊ है और दोषों का उत्पत्ति स्थान है। स्त्री धर्म में विघ्न रूप है। मोक्षमार्ग के लिए अर्गला हैं, दुःखों की उत्पत्ति का स्थान है और सुखों के लिए विपत्ति है।

स्त्री पुरुष को बाँधने के लिए पाश के समान है। मनुष्य को काटने के लिए तलवार के समान है। बींघने के लिए भाले के समान है और डूबने के लिए पंक के समान है।[13] यह स्त्री दु:खों की गहरी खान, लड़ाई और भय की जड़, पाप की कारण, शोक की जड़, तथा नरक की कारण है।[14]

स्त्री मनुष्य के भेदने के लिए शूल के समान है। छेदने के लिए तलवार जैसी तथा पेलने के लिए दृढ़ यंत्र कोल्हू जैसी, संसार रूपी समुद्र में गिरने के लिए नदी के समान है। खपाने के लिए दलदल के समान है। मारने के लिए मृत्यु के समान है। जलाने के लिए आग के समान है। मदहोश करने के लिए मदिरा के समान है। काटने के लिए आरे के समान है। पकाने के लिए हलवाई के समान है। विदारण करने के लिए फरसा के समान है। तोड़ने के लिए मुद्गर के समान है, चूर्ण करने के लिए लुहार के घन के समान है।[15] काम से कलंकित स्त्रियाँ जिस घोर पाप को करती हैं, वह न देखा गया है, न सुना गया है, न जाना गया है, और न शास्त्रों में चर्चा का विषय भी बना है। जो पुरुष कुल, जाति एवं गुण से भ्रष्ट, निन्द्य, दुराचारी, छूने के अयोग्य और हीन होता है, वह प्राय: स्त्रियों को प्रिय लगता है।[16]

स्त्रियों में जो दोष होते हैं, वे दोष नीच पुरुषों में भी होते हैं अथवा मनुष्यों में जो बल और शान्ति से युक्त होते हैं उनमें स्त्रियों से भी अधिक दोष होते हैं। स्त्रियों के इन तथा अन्य बहुत से दोषों का विचार करने वाले पुरुषों का मन विष और आग के समान स्त्रियों से विमुख हो जाता है। जैसे पुरुष व्याघ्र आदि के दोष देखकर व्याघ्र आदि को त्याग कर देता है। उनसे दूर रहता है, वैसे ही स्त्रियों के दोष देखकर मनुष्य स्त्रियों से दूर हो जाता है।[17]

स्त्रियों में इतने अधिक दोष होते हैं कि यदि वे किसी प्रकार से मूर्त स्वरूप को धारण कर लें तो वे निश्चय से समस्त लोक को पूर्ण कर देंगे। इस भूतल में काम के उन्माद की वृद्धि से गर्व को प्राप्त हुई स्त्रियाँ जो अकार्य करती हैं उसके सौंवें भाग का वर्णन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है।[18]

अहंकार नाशक-

पव्वदमित्ता माणा पुंसाणं होंदि कुलबलधणेहि।
बलिएहिं वि अक्खोहा गिरीव लोगप्पयासा य॥
ते तारिसया माणा ओमच्छिज्जंति दुट्ठमहिलाहि।
जह अंकुसेण णिस्साइज्ज हत्थी अदिबलो वि॥[19]

कुल बल और धन से पुरुषों का अहंकार सुमेरु पर्वत के समान जगत् में विख्यात् हैं। उसे बलवान् भी नहीं हिला सकते, किन्तु इस प्रकार के अहंकार भी दुष्ट स्त्रियों के द्वारा नष्ट कर दिए जाते हैं। जैसे अंकुश से अति बलवान् हाथी भी बैठा दिया जाता है। इसी प्रकार नीच पुरुष भी स्त्री के कारण अहंकार से फलीभूत होकर उत्त्म पुरुष की निन्दा भी करता है। अर्थात् स्त्री के कारण नीच पुरुष के द्वारा गर्वोन्नत मनुष्य का भी सिर नीचा हो जाता है।[20]

अविश्वसनीय-

स्त्रियों में विश्वास, स्नेह, परिचय, कृतज्ञता नहीं है। वे पर पुरुष पर आसक्त होने पर शीघ्र ही अपने कुल को अथवा कुलीन भी पति को छोड़ देती हैं। स्त्री अनेक प्रकारों से पुरुष में विश्वास उत्पन्न करती है, किन्तु पुरुष अनेक उपायों से भी स्त्री में विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। जो स्त्रियों का विश्वास करता है वह व्याघ्र, विष, चोर, आग, पानी, मत्त हाथी, कृष्ण सर्प और शत्रु का विश्वास करता है। व्याघ्र आदि मनुष्य का उतना अहित नहीं करते जितना महान् अहित दुष्ट स्त्री करती है।[21]

कुलनाशी-

क्रुद्ध सर्प की तरह उन स्त्रियों को दूर से ही त्यागना चाहिए। रुष्ट प्रचण्ड राजा की तरह वे कुल का नाश कर देती है। जिस प्रकार धुएँ की पंक्तियाँ नि:संदेह घर को मलिन किया करती है। उसी प्रकार काम के उन्माद से त्रस्त हुई स्त्रियाँ भी निश्चय से अपने कुल को क्षणभर में मलिन कर देती है। साथ में रहने वाले पति, पुत्र, माता और पिता को दु:ख के समुद्र में गिरा देती है।[22] स्त्रियाँ दुराचारी जनों में विचरण करती हुई कुल की परिपाटी का उल्लंघन किया करती हैं। वे उस समय गुरु, मित्र, पति और पुत्र का भी स्मरण नहीं करती है। दुराचरण में प्रवृत्त होकर वे गुरु आदि की

भी परवाह नहीं करती हैं।[23]

मायावी-

स्त्री पुरुष को छल-कपट के द्वारा अनायास ही ठग लेती है, पुरुष स्त्रियों के छल कपट को जान भी नहीं पाता, किन्तु पुरुष के द्वारा किए गए कपट को स्त्री तुरन्त जान लेती है। उसे उसके लिए कुछ भी कष्ट उठाना नहीं होता। स्त्री वचनों के द्वारा पुरुष को आकृष्ट करती है और पापपूर्ण हृदय से उसका घात करती है। स्त्री के वचनों में अमृत भरा रहता है और हृदय में विष भरा होता है। स्त्री कटाक्षपात से किसी एक पुरुष को, भावों से दूसरे को, वचनों व शरीर की चेष्टाओं से किसी और को, संकेत से किसी अन्य को तथा संभोग से अन्य ही पुरुष को सन्तुष्ट किया करती है।[24]

स्त्री के कपट भावों के विषय में भगवती आराधनाकार कहते हैं कि- शिला पानी में तिर सकती है। आग भी न जलाकर शीतल हो सकती है किन्तु स्त्री का मनुष्य के प्रति कभी भी सरल भाव नहीं होता। सरल भाव के अभाव में कैसे उनमें विश्वास हो सकता है और विश्वास के अभाव में स्त्रियों का मनुष्य के प्रति कभी भी सरल भाव नहीं होता। महाबलशाली मनुष्य समुद्र को भी पार करके जा सकता है, किन्तु मायारूपी जल से भरे स्त्री रूपी समुद्र को पार नहीं कर सकता। रत्नों से भरी किन्तु व्याघ्र के निवास से युक्त गुफा और मगरमच्छ से भरी सुन्दर नदी की तरह स्त्री मधुर और रमणीय होते हुए भी कुटिल और सदोष होती है। दूसरे ने स्त्री में दोष देखा हो तो भी स्त्री यह स्वीकार नहीं करती है कि मेरे में यह दोष है। जैसे गोह पुरुष को देखकर उससे अपने को छिपाती है। उसी प्रकार स्त्री अन्य लोगों को देखकर दोषों को छिपाती है।[25]

स्त्री के प्रेम में मायाचार का दर्शन कराते हुए कहा है - जिस प्रकार नदी अधर अधोभाग से प्रीति किया करती हैं नीचली भूमि की ओर बहा करती है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी अधर नीच पुरुष से प्रेम किया करती हैं, तथा जिस प्रकार बाल चन्द्र की रेखा कुटिल तिरछी होती है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी नियम से कुटिल मायाचारिणी हुआ करती है।[26]

स्वभाव से मायापूर्ण व्यवहार करने वाली स्त्रियाँ दूसरों को ठगने के लिए वचन तो मधुर बोलती हैं, परन्तु मन में उनके घात का ही विचार

करती हैं। वश करने के योग्य अंजन, उत्तम औषधियाँ तथा अनेक प्रकार के मंत्र और यंत्र आदि ये सब आराधना स्त्री के समक्ष व्यर्थ सिद्ध होते हैं। स्त्रियाँ अंजन, औषधि, मंत्र और विनय के बिना भी क्षणभर में अतिशय बुद्धिमान पुरुष को भी धोखा दिया करती हैं।[27]

मन की चंचलता-

मन वैसे तो संसारी प्राणियों का चंचल होता है, परन्तु कामी स्त्रियों के मन में अतिचपलता होती है। कहा है- सन्ध्या की तरह स्त्रियों का राग भी अल्प काल रहता है। जैसे सन्ध्या की लालिमा विनाशीक है वैसे ही स्त्रियों का अनुराग भी विनाशीक है। इससे अस्थिररागता नामक दोष होता है तथा महिलाओं का हृदय वायु की तरह सदा अति चंचल होता है।[28]

लोक में जितने तृण हैं, समुद्र में जितनी लहरें हैं, बालु के जितने कण हैं तथा जितने रोम हैं, उनसे भी अधिक स्त्रियों के मनोविकल्प हैं। आकाश की भूमि, समुद्र का जल, सुमेरु और वायु का भी परिमाण मापना शक्य है, किन्तु स्त्रियों के चित्त का मापना शक्य नहीं है। जैसे बिजली, पानी का बुलबुला और उल्का बहुत समय तक नहीं रहते, वैसे ही स्त्रियों की प्रीति एक पुरुष में बहुत समय तक नहीं रहती। परमाणु भी किसी प्रकार मनुष्य की पकड़ में आ सकता है, किन्तु स्त्रियों का चित्त पकड़ में आना शक्य नहीं है, वह परमाणु से भी अति सूक्ष्म है। क्रुद्ध कृष्ण सर्प, दुष्ट सिंह, मदोन्मत्त हाथी को पकड़ना शक्य हो सकता है, किन्तु दुष्ट स्त्री के चित्त को पकड़ पाना शक्य नहीं है। कदाचित् विष के मध्य में अमृत के प्रवाह की तथा शिला समूह के ऊपर धान्य के समूह की संभावना भले ही की जा सकती हो, किन्तु स्त्रियों के मन निर्मलता की कभी संभावना नहीं की जा सकती है। बिजली के प्रकाश में, नेत्र में स्थित रूप को देखना शक्य है, किन्तु स्त्रियों के अति चंचल चित्त को जान लेना शक्य नहीं है। संयोग से वन्ध्या स्त्री के पुत्र को राज्यलक्ष्मी तथा आकाश को पुष्पों की शोभा भले ही प्राप्त हो जाए परन्तु स्त्रियों के मन की शुद्धि थोड़ी सी भी नहीं हो सकती है। यदि दैववश चन्द्रमा, तीव्रता को धारण कर लेता है और सूर्य कदाचित् शीतलता को धारण कर लेता है तो भी स्त्री पुरुष के विषय में अपने मन को स्थिर नहीं रख सकती हैं। जो अतिशय बुद्धिमान् मनुष्य, देव,

दैत्य, सर्प, हाथी, ग्रह, चन्द्र और सूर्य की चेष्टा को जानते हैं, सुख-दुःख, जय-पराजय और जीवन-मरण को जानते हैं, वे भी स्त्रियों के चारित्र को नहीं जानते हैं। जहाज समुद्र के पार पहुँचते हैं तथा नक्षत्र आकाश के पार पहुँचते हैं, परन्तु स्त्रियों के दुश्चरित्र के पार कोई भी नहीं पहुँचते हैं।[29]

कितने ही मनुष्य वन में स्थित व्याघ्र को, आकाश में स्थित पक्षी को तथा नदी व तालाब में स्थित मछली को ग्रहण किया करते हैं, परन्तु स्त्रियों के चंचल मन को कोई भी ग्रहण कर नहीं सकता है।

इस संसार में कोई मणि, मंत्र, औषध और अंजन तथा ऐसी वे विद्याएँ भी नहीं जिनके आश्रय से यहाँ स्त्रियाँ उत्तम, अभिप्राय को प्राप्त करेंगी।[30] जब तक वे पुरुष को अपने में अनुरक्त नहीं जानती तब तक वे पुरुष के अनुकूल वर्तन के द्वारा तथा प्रशंसा परक वचनों के द्वारा पुरुष के मन को उसी प्रकार आकृष्ट करती है जैसे माता बालक के मन को आकृष्ट करती है। बनावटी हास्य वचनों से, बनावटी रुदन से, झूठी शपथों से कपटी स्त्रियाँ पुरुष के चंचल चित्त को हरती हैं।[31]

स्वभाव से कुटिल स्त्रियाँ गुणों में दोषों को देखा करती हैं, प्रिय के विषय में वे दुष्टता पूर्ण व्यवहार करती हैं तथा उनका आदर किए जाने पर, वे क्रोध को प्राप्त होती हैं। स्त्रियाँ सब ही जनों के ठगने में चतुर होती हैं। वे प्रत्यक्ष में लाखों अयोग्य कार्यों को करके भी उन्हें संदेह से रहित होकर आच्छादित किया करती है। हमारे दोष कभी प्रकट हो सकते हैं, ऐसा उन्हें संदेह भी नहीं रहता है।[32]

कृतघ्न -

थोड़ा सा भी अपराध होने पर स्त्री सैकड़ों उपकारों को भुलाकर अपना, पति का, कुल का और धन का नाश कर देती है। सत्पुरुषों के भी मन में घर को बांधने वाली-स्थान को प्राप्त करने वाली स्त्री, निर्भय होकर समस्त संसार से पूजे जाने योग्य गुण समूह को उजाड़ देती है। नष्ट कर देती है। परपुरुष में जिसका चित्त लग जाता है, वह स्त्री अपने पति के सम्मान, उपकार, कुल, रूप, यौवन आदि गुण, स्नेह, सुखपूर्वक लालन-पालन और मधुर वचनों का भी विचार नहीं करती तथा व्याघ्री की तरह उनके हृदय को विदारित करती है। वे शत्रु के समान सदा पुरुष के पाप का ही चिन्तन

करती हैं।[33]

स्वच्छन्दी-

वे स्वच्छन्द प्रवृत्ति की इच्छा से बिना किसी अपराध के पति, पुत्र, श्वसुर अथवा पिता का घात कर देती है।[34] स्वच्छंदता की इच्छा करने वाली स्त्रियाँ मूर्खता से अभीष्ट फल के देने वाले कुल रूप कल्पवृक्ष को नष्ट कर डालती है। स्त्री स्वच्छंदता को प्राप्त होकर अकेली ही मनुष्य के जिस अनर्थ को करती है, उसे क्रोध को प्राप्त हुए सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा भी नहीं करते हैं।[35]

पतिहन्त्री-

स्त्रियाँ कामदेव के समान सुन्दर, पराक्रमी, कुलीन, दान सम्मान, सम्भोग, नमन और आदर-सत्कार के द्वारा निरन्तर ही उनकी सेवा में तत्पर और लोक के स्वामी राजा जैसे सुयोग्य पति को शीघ्र ही मारकर दासी पुत्रों के साथ रमण किया करती है। सब स्त्रियाँ कामदेव की गोद को भी पाकर अर्थात् कामदेव के समान सुन्दर पति को भी प्राप्त कर स्वभाव से अन्य पुरुष की इच्छा किया करती हैं। जैसे अयोध्या नगरी का स्वामी देवरति राज्य सुख से वंचित हो गया। उसकी रता नाम की रानी ने गान विद्या में प्रवीण एक लगड़े व्यक्ति पर आसक्त होकर अपने पति को नदी में फेंक दिया।[36]

हृदयकलुषा-

वर्षाकाल की नदियों की तरह स्त्रियों का हृदय भी नित्य कलुषित रहता है। चोर की तरह वे भी अपना कार्य करने में तत्पर रहती हैं और उनकी बुद्धि मनुष्य का धन हरने में रहती है।[37] स्त्रियाँ अतिशय निर्दय होकर पति, पुत्र और पिता को भी संदेह की तराजू पर क्षणभर में आरोपित किया करती है। अभिप्राय यह है कि स्त्रियाँ अपने पति, पुत्र और पिता को भी संदेह की दृष्टि से देखने लगती है।[38]

कुलीन महिलाएँ प्रायः पति को ही देवता मानकर अपने प्रिय को छोड़ देती हैं, किन्तु कुलीन नारियों का भी मनुष्य तभी तक प्रिय रहता है। जब वह धनहीन, वृद्ध, रोगी, दुर्बल और स्थान से रहित नहीं होता है। स्त्री को इन अवस्थाओं को प्राप्त मनुष्य को रस निकाली हुई ईख की तरह अथवा गन्धरहित माला की तरह अप्रिय होता है। उसे कुलीन स्त्रियाँ भी

शीघ्र छोड़ दिया करती हैं। फिर नीच स्त्रियों का तो कहना ही क्या है ?[39]

मत्त हाथी की तरह स्त्रियाँ मद से उन्मत्त रहती हैं। वे अपने दास में और पति में कुछ भी अन्तर नहीं करती। यह मेरा मान्य कुलीन पति है और यह दासी का पुत्र नीच हैं, मैं इसकी स्वामिनी हूँ, यह भेद नहीं करती। जब वे जानती हैं कि हमारे में अनुरक्त पुरुष के पास चाम, हड्डी और माँस ही शेष है, तो उसे वंशी में लगे माँस के लोभ से फँसे मत्स्य की तरह संताप देकर मार डालती है।[40]

धार्मिक क्रियाओं से वंचित-

काम से अंधी हुई स्त्रियाँ न दान को देखती हैं, न पूजन, न व्रत, न शील आदि पर विचार करती हैं, न सुजनता का विवेक रखती हैं, न प्रतिष्ठा का विचार करती हैं, न अपनी व अपने कुल की महानता को देखती हैं, और न अपने व दूसरे के हित का भी ध्यान रखती हैं। गौरव प्रतिष्ठा और आराधनीय उत्कृष्ट गुणों में स्थापित की गई भी स्त्रियाँ स्वयं दोष रूप कीचड़ में निमग्न हुआ करती है। स्त्रियाँ अथाह क्रोध के वेग से अंधी होकर उस कार्य को करती हैं कि जिससे यह लोक शीघ्र ही दु:ख रूप समुद्र में पड़ जाता है।[41]

उत्तम पुरुषों का मान मर्दन-

जिन अतिशय बलशाली पुरुषों ने शत्रु के हाथी के दांत के अग्र भाग पर चढ़ कर वीर लक्ष्मी को स्थिर कर दिया है, वे भी स्त्रियों के द्वारा खण्डित किए जा चुके हैं। जो मनुष्य सुमेरु के समान निष्कम्प और समुद्र के समान अतिशय गम्भीर होते हैं, उन्हें भी विचलित करके स्त्रियाँ क्षणभर के भीतर तिरस्कार को प्राप्त कराती है। जो स्त्री तिरस्कार रूप फल को उत्पन्न करने के लिए बेल के समान है, दु:खरूप वनाग्नि की पंक्ति है, विषयभोग रूप समुद्र की बेला (किनारा) है, नरक रूप प्रासाद का प्रवेश द्वार है, काम रूप सर्प की दाढ़ के समान है तथा मोह व आलस्य की माता है, उसको हे भव्य! तू परिणामों की स्थिरता का आश्रय लेकर छोड़ दे।[42]

शीलवान स्त्रियाँ-

संसार में सदैव दुश्चरित्रधारी स्त्रियाँ ही विद्यमान नहीं हैं। उन स्त्रियों में से भी कुछ स्त्रियाँ ऐसी हैं, जो अपने शीलधर्म के प्रभाव से जगत् को

शोभायमान करती हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने दुश्चारित्रधारी स्त्रियों के गुणों का प्रकाशन करते हुए भी सच्चारित्रवती, शीलवती स्त्रियों की निन्दा का निषेध करते हुए कहा है कि- संसार में निश्चय से कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो शम (शान्ति), शील (पातिव्रत्य), एवं संयम से विभूषित तथा आगमज्ञान व सत्य से संयुक्त हैं। ऐसी स्त्रियाँ अपने वंश की तिलक मानी जाती हैं- जिस प्रकार तिलक उत्तम अंग स्वरूप मस्तक के ऊपर विराजमान होता है और उससे समस्त शरीर की शोभा बढ़ जाती है, उसी प्रकार उपर्युक्त स्त्रियों के द्वारा उनके कुल की भी शोभा बढ़ जाती है। कितनी ही स्त्रियाँ पातिव्रत्य, महानता, सदाचरण, विनय और विवेक के द्वारा इस पृथ्वी तल को विभूषित करती है। जो मुनिजन संसार परिभ्रमण से विरक्त हो चुके हैं, आगम के पारगामी हैं, सर्वथा विषयों की इच्छा से रहित हैं, शान्तिरूप धन के स्वामी हैं तथा ब्रह्मचर्य व्रत के धारक हैं, उनके द्वारा यद्यपि स्त्रियों की निन्दा की गई है, तो भी जो स्त्रियाँ निर्दोष संयम, स्वाध्याय एवं चारित्र से चिह्नित हैं। इन गुणों से विभूषित हैं और लोक की शुद्धिभूत हैं, जनशुद्धि की कारण हैं, उनकी वैराग्य व प्रशम आदि रूप पवित्र गुणों का आचरण करने वाले महापुरुष कभी निन्दा नहीं करते हैं।[43]

इसी प्रकार भगवती आराधनाकार ने स्त्रियों के सच्चारित्र का बखान करते हुए उनके गुणों की प्रशंसा की है- जैसे अपने शील की रक्षा करने वाले पुरुषों के लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं। वैसे ही अपने शील की रक्षा करने वाली स्त्रियों के लिए पुरुष निन्दनीय हैं। जो गुण सहित स्त्रियाँ हैं, जिनका यश लोक में फैला हुआ है तथा जो मनुष्य लोक में देवता समान हैं और देवों से पूजनीय हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाए कम हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरों को जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषों के द्वारा पूजनीय होती है। कितनी ही महिलाएँ एक पतिव्रत और कौमार ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हैं। कितनी ही जीवन पर्यन्त वैधव्य का तीव्र दुःख भोगती हैं। ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं, जिन्हें देवों के द्वारा सम्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शील के प्रभाव से शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ थीं। कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदी के जल प्रवाह में भी नहीं डूब सकीं और प्रज्वलित घोर

आग में भी नहीं जल सकीं तथा सर्प व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नहीं कर सके। कितनी ही स्त्रियाँ सर्व गुणों से सम्पन्न साधुओं और पुरुषों में श्रेष्ठ चरम शरीरी पुरुषों को जन्म देने वाली माताएँ हुई है।[44]

उपसंहार-

सब जीव मोह के उदय से कुशील से मलिन होते हैं और वह मोह का उदय स्त्री पुरुषों के समान रूप से होता है। अत: ऊपर जो स्त्रियों के दोषों का वर्णन किया है वह स्त्री सामान्य की दृष्टि से किया है। शीलवती स्त्रियों में ऊपर कहे दोष कैसे हो सकते हैं। काम रूपी रोग मात्र स्त्री पुरुष में ही नहीं, अपितु संसार के सभी मनुष्य, पशु और देवों में भी पाया जाता है। जिसमें देवों में तथा पशुओं में इसका उद्वेग रोक पाना असंभव सा है, परन्तु मनुष्यों में कुछ ही मनुष्य ऐसे होते हैं, जो इस रोग पर प्रतिबन्ध लगाकर शीलरूपी धर्म का पालन करते हैं। वे धन्य हैं। यहाँ स्त्री की युक्ति-युक्तता पर आचार्य शुभचन्द्र ने वर्णन किया है, जिसमें मोक्षमार्ग में बाधक कामी स्त्रियों से दूर रहने का तथा सदाचारिणी स्त्रियों का सम्मान करने का निर्देश दिया है, परन्तु सदाचारिणी स्त्रियों से भी आवश्यक दूरी बनानी चाहिए, क्योंकि स्त्रीगत गुण तथा दोष प्रत्येक स्त्री में विद्यमान रहते हैं। चाहे वह शीलवती हो अथवा दुराचारिणी हो। अत: स्त्रियों में राग दु:ख का कारण एवं शील में अतिचार का कारण है। इस कारण इससे दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

संदर्भ सूची-

1. भगवती आराधना, आचार्य शिवार्य, गाथा-876, पृष्ठ-515, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, महाराष्ट्र, 2004
2. संस्कृत हिन्दी शब्द कोश, शिवराम आप्टे, पृष्ठ-1138, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, 1987
3. पंचसंग्रह प्राभृत, आचार्य कुन्दकुन्द, 1/105, धा. 1/1,1,101/340/9
4. ज्ञानार्णव, आचार्य शुभचन्द्र, अध्याय 12, श्लोक 20, 51, पृष्ठ 228, 236, जैन संस्कृती संरक्षक संघ, सोलापुर, महाराष्ट्र, 1998
5. भगवती आराधना, गाथा-971-975, पृष्ठ-537-538,
6. ज्ञानार्णव, अधिकार 11,श्लोक 22, पृष्ठ 215
7. ज्ञानार्णव, अधिकार 13,श्लोक 2, पृष्ठ 240
8. ज्ञानार्णव, अधिकार 12,श्लोक 5,16,3,6, पृष्ठ 224
9. ज्ञानार्णव, अधिकार 12,श्लोक 22, पृष्ठ 228

10. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 11, पृष्ठ 225
11. भगवती आराधना, गाथा-952, पृष्ठ 533
12. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 9, पृष्ठ 225
13. भगवती आराधना, गाथा- 976-980, पृष्ठ 538-539
14. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 49, पृष्ठ 236
15. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 44, पृष्ठ 234, भगवती आराधना, गाथा- 981-984,
16. ज्ञानार्णव अधिकार 12, श्लोक 19, 33, पृष्ठ 227,231
17. भगवती आराधना, गाथा-985, 986,987, पृष्ठ 540
18. ज्ञानार्णव अधिकार 12, श्लोक 50,1, पृष्ठ 223,236
19. भगवती आराधना, गाथा- 934-935, पृष्ठ 528-529
20. भगवती आराधना, गाथा-933, पृष्ठ 528
21. भगवती आराधना, गाथा- 937-938, 946-947, पृष्ठ 529, 531
22. ज्ञानार्णव, अधिकार 12,श्लोक 8, पृष्ठ 225 भगवती आराधना, गाथा- 932
23. ज्ञानार्णव, अधिकार 12,श्लोक 10, पृष्ठ 225
24. भगवती आराधना, गाथा- 951, 964, पृष्ठ 533,536, ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 52, पृष्ठ 225
25. भगवती आराधना, गाथा- 966-970, पृष्ठ 536-537
26. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 7, पृष्ठ 224
27. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 32, पृष्ठ 231
28. भगवती आराधना, गाथा- 955, पृष्ठ 534
29. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 39, 40, 23, 24, 25, 26 पृष्ठ 224
30. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 28, 29, पृष्ठ 230
31. भगवती आराधना, गाथा-956-963, पृष्ठ 534-536
32. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 36, 37, पृष्ठ 232
33. भगवती आराधना, गाथा-939, 942,954, पृष्ठ 529, 530,534
34. भगवती आराधना, गाथा-941, पृष्ठ 530
35. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 14,15 पृष्ठ 226
36. ज्ञानार्णव,अधिकार 12,श्लोक 30,31,38,पृष्ठ 230,232,भगवती आराधना,गाथा- 943
37. भगवती आराधना, गाथा- 948, पृष्ठ 532
38. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 27, पृष्ठ 229
39. ज्ञानार्णव अधिकार 12, श्लोक 43, पृष्ठ 233, भगवती आराधना, गाथा- 949-950,
40. भगवती आराधना, गाथा-953, 9ऽ5, पृष्ठ 533,536
41. ज्ञानार्णव अधिकार 12,श्लोक 14,35,12, पृष्ठ 226 231,
42. ज्ञानार्णव अधिकार 12, श्लोक 34, 42,55, पृष्ठ 231,233, 237
43. ज्ञानार्णव अधिकार 12, श्लोक 57-59, पृष्ठ 239

44. भगवती आराधना, गाथा- 988-996, पृष्ठ 540-541

आर जेड 7अ/5अ, गली नं. 2, पूरन नगर,
पालम पुलिस स्टेशन के पास, पालम,
नई दिल्ली-110077

इष्टोपदेश

यज्जीवस्योपकाराय, तद्-देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्।।19।।

अर्थात् जो कार्य आत्मा का उपकार करने वाला है वह शरीर का अपकार करने वाला है तथा जो शरीर का उपकार करने वाला है वह आत्मा का अपकार करने वाला है।

आचार्य श्री विद्यासागरकृत पद्यानुवाद

तन का जो उपकारक है वह चेतन का अपकारक है,
चेतन का उपकारक है जो तन का वह अपकारक है।
सव शास्त्रों का सार यही है, चेतन का उद्धार करो,
अपकारक से दूर रहो तुम, तन का कभी न प्यार करो।।

अशोक-शिलालेख में निहित दर्शन

(गिरनार शिलालेख के सन्दर्भ में)

डॉ. आनन्द कुमार जैन

इतिहास में कुछेक प्रसंग ऐसे हैं जहाँ जनसंहार से सप्रस्फुटित पश्चाताप का स्रोत जीवनोत्थान का प्रबल कारण बना है। यद्यपि यह विरोधाभास सा लगता है किन्तु ऐसे बिरले उदाहरण हैं और जो भी हैं वे किसी क्षेत्र विशेष, जाति, समुदाय या देश की सीमा को लाँघ कर समूचे मानव जाति के अन्तस में अहम स्थान रखते हैं। ये उदाहरण या तो प्रागैतिहासिक हैं या संक्षिप्त रूप से इतिहास में निबद्ध हैं और हो सकता है कि अनेकों उदाहरण ऐसे होंगे जिनका अन्वेक्षण भी अभी तक न हुआ हो जैसे कि जैसे कि दो सौ वर्ष पूर्व तक भारतीय संस्कृति की अनेक बहुमूल्य निधियों का अन्वेषण पश्चिमी विद्वानों ने किया, जो आज भी समादृत है। यही सत्य पाली तथा प्राकृत भाषा के पुनरुत्थान का है जो कि भारतीय वाङ्मय के लिए पश्चिमी विद्वानों का प्राण-दायक अवदान है और विगत सौ-डेढ़ सौ वर्षों में पुरातात्त्विक क्षेत्रों की खुदाई मे भारतीय धरोहरों की खोज भी इसी का परिणाम है। इनमें कई ऐतिहासिक शिलालेख, अभिलेख प्राप्त हुए हैं और भारत-भूमि ऐसे ही साक्ष्यों से खचित है और इनमें भी अशोक के शिलालेख ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन शिलालेखों का भाषिक तथा पुरातात्त्विक दोनों पक्षों से महत्त्व है। ये समस्त शिलालेख अशोक ने हृदय-परिवर्तन के पश्चात् अपने साम्राज्य में लगवाये। यद्यपि यह इस घटना से पूर्व अशोक ने असीमित क्षेत्रों पर विजय पताका फहराकर स्वयं में गौरवान्वित अनुभव किया होगा किन्तु क्षत-विक्षत पड़े, लहू से रंजित शवों तथा उनके समक्ष बिलखते बच्चों एवं विधवाओं को देखकर हृदय परिवर्तन का अनूठा घटनाक्रम ही अध्यात्म का गोमुख सिद्ध हुआ।

इतिहास देखें तो इसी प्रकार की घटना भगवान् बुद्ध के जीवन में भरी घटना भगवान बुद्ध के जीवन में भी घटित हुई जब वृद्ध, रोगी तथा मृतक को देखकर मन में संसार के रहस्य को जानने की उत्कण्ठा जागृत हुई और उनके वे कदम अनायास ही अध्यात्मोन्मुख हो गये। ऐसी ही स्थिति महाभारत के युद्धोपरान्त पाण्डवों की हुई जब स्वजनों के सामूहिक जनसंहार को देखकर पाण्डवों के हृदय में आत्मग्लानि हुई जिसके फलस्वरूप उन्होंने तीर्थाटन किया और राजकाज में अरुचि हुई।

उपर्युक्त ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक उपक्रम को देखें तो एक धारा हिंसा से अहिंसा की ओर आती हुई प्रतीत होती है। इस अहिंसा, वैराग्य तथा अरुचि के फलस्वरूप जिन चिन्तन तथा मनन योग्य तत्त्वों का उद्भव होता है वह तद्-तद् सम्बन्धी दर्शन का द्योतक हो गया अर्थात् अहिंसा के सम्बन्ध में जागृत हुई इच्छा अहिंसा-दर्शन है, वैराग्य की जिज्ञासा वैराग्य दर्शन है, करुणा का पालन करुणा दर्शन है। इसी प्रकार दिग्विजय के पश्चात् उत्पन्न हुई आत्मग्लानि एवं आत्मनिन्दा से सम्राट् अशोक के जीवन में जो परिवर्तन हुआ उसका दिग्दर्शन अशोक द्वारा प्रस्थापित चौदह, शिलालेखों में होता है। इन शिलालेखों के नामकरण इनके विषय को ध्यान में रखकर किये गये हैं जिनमें पहला जीवदया: पशुयाग तथा मांस-भक्षण निषेध है, दूसरा लोकोपकारी कार्य, तीसरा धर्मप्रचार, चौथा धर्मघोष धार्मिक प्रदर्शन, पंचम धर्म महामात्र, षष्ठ प्रातवेदना, सप्तम धार्मिक समता, संयम, भावशुद्धि, अष्टम धर्मयात्रा, नवम धर्म-मंगल, दशम धर्म-शुश्रूषा, एकादश धर्म दान, द्वादश सार-वृद्धि, त्रयोदश वास्तविक विजय, चतुर्दश उपसंहार। इसके साथ चिकित्सा के उपयोग में आने वाली औषधियों का भी विस्तृत क्षेत्र में रोपण करवाना कुशल तथा करुणानिधि शासक का सूचक है। वस्तुत: करुणा का ज्ञान ही करुणा का प्रत्यारोपण में हेतु है। विशेष यह है करुणा का उल्लेख समस्त भारतीय दर्शनों में है। मुनि दधीचि ने करुणा के वशीभूत होकर ही अपनी हड्डियों का दान देवताओं के लिए किया था। बौद्ध-साहित्य का आलोडन करें तो अंगुलिमाल का जगत् प्रसिद्ध कथानक सर्वविदित ही है; जैनदर्शन की चर्चा करें तो आचारांग में उपलब्ध प्रसंग में भगवान् महावीर

ने अपने प्रति उद्दण्डता करने वालों के प्रति हृदय में कलुषता की जगह करुणा की अमृत-धारा प्रवाहित की।

एक और प्रसंग पर दृष्टिपात करें तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ये गिरनार के शिलालेख सम्राट् के हृदय परिवर्तन के पूर्व के हैं या पश्चात्वर्ती? तो कहना होगा कि तथ्य जो भी हो यदि उसको गौण करके चिन्तन करें तो यदि शिलालेख पूर्ववर्ती हैं तो हृदय परिवर्तन के पश्चात् क्या शेष करने के लिए रहा होगा? क्योंकि सर्वधर्म समभाव, प्राणी मात्र की चिन्ता का इनमें अन्तर्भाव हो जाता है और यदि हृदय परिवर्तन के पश्चात् की चर्चा करें तो यह कहा जा सकता है कि जो इन मूल्यों का निर्धारण सम्राट् अशोक ने स्वशासित क्षेत्र में किया होगा उसका विस्तार हृदय-परिवर्तन के पश्चात् समूचे शासित, अर्द्धशासित तथा अशासित क्षेत्रों में किया होगा।

चिन्तन की पराकाष्ठा का एक और उदाहरण देखना हो तो वे पंक्तियाँ आत्मा को झकझोरती हैं जब सम्राट अशोक उद्घोष करते हैं मैं चाहे भोजन करता हूँ, गर्भागार (शयनगृह) में रहूँ, व्रज अर्थात् पशु शाला में रहूँ, विनती अर्थात् पालकी पर रहूँ या उद्यान में रहूँ; जनता के कार्य की सूचना मुझे मिलती रहनी चाहिए।[2] इसी की स्पष्टता में शिलालेखों में लिखा है कि सर्वलोक-हित मेरा कर्तव्य है; यह मेरा मत है।[3]

सप्तम शिलालेख समस्त सम्प्रदायों के एक ही स्थल पर जीवन-निर्वाह का संकेत करता है और अधिक क्या कहें विहार यात्रा का भी कथञ्चित् समर्थन है; किन्तु वह भरी तब जब विहार यात्रा आमोद-प्रमोद से हटकर धर्मयात्रा में परिवर्तित हुई जिसके अन्तर्गत सम्राट अशोक बोधगया (महात्मा बुद्ध का संबोधि स्थल) गये।[4] युद्ध भेरी की परिभाषा धर्म भेरी में तथा सेवा जगत्-सेवा में बदल गई।

सम्पूर्ण शिलालेखों को देखें तो ये दार्शनिक विचारधाराओं का अर्णव है जिसमें जिस विधा का व्यक्ति अध्ययन करता है उसे अपना दृष्टिकोण दिखता है जो कि अशोक की वैचारिक श्रेष्ठता को द्योतित करता है।

प्रथम शिलालेख जीव दया

यह पशुयाग तथा माँस भक्षण निषेध के अर्थ में प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य शिलालेखों में अहिंसा, पश्चाताप, करुणा, स्वच्छ कूटनीति, पारिवारिक कर्तव्य, सामाजिक कर्तव्य, निर्लोभता, जातिगत सामञ्जस्य, शीलपालन जैसे विविध विषयों को इंगित किया है। गिरनार के प्रसिद्ध शिलालेख में सर्वप्रथम जीव-दया का निर्देश है[5] और अशोक शासित क्षेत्रवर्ती लोगों के लिए हर सम्भव स्थिति में इसके पालन का निर्देश था।

जहाँ जीव-दया पालन दुष्कर था ऐसी परिस्थितियों का स्पष्ट उल्लेख करके शिलालेखों में उनका निषेध किया गया है। उदाहरण के लिए समाज अर्थात् जहाँ विलास तथा आमोद-प्रमोदपूर्ण उत्सव होता था और जिनमें गाना, बजाना, नृत्य, माँस, मदिरा आदि का प्रयोग उन्मुक्त रूप से होता था। इनका सम्राट अशोक ने निषेध किया था तथा सात्त्विक रूप से मनाने का संदेश दिया। इनको वर्जित करना अनिवार्य भी था क्योंकि इन कार्यक्रमों की ओट में जो प्राणियों पर अत्याचार हो रहा था वह अशोक के लिए असहनीय था। नीर-क्षीर विवेकी राजा की तरह अशोक ने मात्र कमियों पर ध्यान दिया है क्योंकि 'समाज' से अशोक को शिकायत नहीं थी अपितु उसमें होने वाली हिंसा का निषेध करना उद्देश्य था। इसी कारण से प्रथम अभिलेख की छटी सातवीं पंक्ति में हिंसा रहित समाज का समर्थन किया है।[6] यही न्यायोचित आदेश जैनदर्शन के सिद्धान्त स्याद्वाद को भी सूचित करता है। अर्थात् कथञ्चित् समाज उचित है यदि अहिंसायुक्त हो। इसी प्रकार कि एक किवदन्ती भगवान् बुद्ध के सम्बद्ध में बहुप्रचलित है कि जब उनसे पूछा गया कि शयन करना अच्छा या जागना अच्छा तो भगवान् बुद्ध बड़ा ही सुन्दर उत्तर देते हुए कहते हैं कि दुष्ट का सोना अच्छा है तथा सज्जन का जागना अच्छा है। यहाँ भी अपेक्षा की दृष्टि को अनुभव करें तो स्याद्वाद की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है।

जब प्रश्न रुग्ण मनुष्यों का उठा तो मनुष्यों के साथ-साथ जानवरों की भी सुरक्षा तथा स्वास्थ्य का ध्यान सम्राट् अशोक के शासन काल में मिलता है।[7] मनुष्यों तथा पशुओं के लिए चिकित्सालय खुलवाना तथा

चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली औषधियों को वृहद् स्तर पर विहार में उगाना दूरदर्शिता का सूचक है। इसी प्रकार से अन्य शिलालेख के स्थापन में भी विशाल चिन्तन निहित है जिसके अन्वेषण की तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों के आधार पर अध्ययन तथा विश्लेषण की आवश्यकता है।

संदर्भ :

1. गि. शि., शिलालेख सं. षष्ठ, पंक्ति 3,4,5
2. गि. शि., शिलालेख सं. षष्ठ, पंक्ति 9
3. गि. शि., शिलालेख सं. षष्ठ, पंक्ति 1,2,
4. इध न किं चि जीवं आरभित्पा प्रजहितव्यं। प्रथम अभिलेख (गिरनार शिला), पंक्ति 2,3
5. अस्ति पि तु एक चा समाजा साधुमता देवानं प्रियस प्रियद सिनो राजो
6. गि. शि., शिलालेख सं. 2, पंक्ति 5

– अतिथि प्राध्यापक, जैनदर्शन विभाग,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान,
जयपुर-302018 (राजस्थान)

कविवर भूधरदास

जरा मौत की लघु बहन यामें संशय नाहिं।
तौ भी सुहित न चिन्तवै बड़ी भूल जगमांहि॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जरा (बुढापा) मृत्यु की लघु बहिन है, फिरभी वह जीव अपने हित की चिन्ता नहीं करता, यह इस आत्मा की बड़ी भूल है।

जैनकर्मवाद के आधारभूत सिद्धान्त

- प्रो. श्रीयांश कुमार सिंघई

सम्पूर्ण जगत् एवं उसमें विद्यमान वस्तुओं को समझना सचमुच ही एक जटिल पहेली है, जिसे सुलझाने का प्रयास भारतीय मनीषा ने किया है तथापि उसे समझ पाना टेढ़ी खीर अवश्य है। परितः परिलक्षित नानाविध वस्तुओं एवं उनमें होने वाला क्षण-क्षणवर्ती परिणमन-बदलाव ऐसा शाश्वत सत्य है जो बुद्धिगम्य होकर भी हमारे बौद्धिक व्यापार के लिये चुनौती बना हुआ है। एक तरफ हमारी अल्प सामर्थ्य बुद्धि है तो दूसरी तरफ हैं अनन्त सामर्थ्य संधारक अनन्तानन्त पदार्थ। सूक्ष्म-स्थूल मूर्त-अमूर्त, चित्-अचित् आदि नानाविध एकल पदार्थों की समदिष्ट का द्योतक या बोधक ही जगत् माना जाता है।

इस जगत् में ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं और उन्हें जानने वाले ज्ञाता का ज्ञान अकेला-एक ही है। ज्ञान एवं ज्ञेयों की सामर्थ्य (योग्यता) को साक्षात् एवं सम्पूर्ण रूप से जान पाना सम्भव नहीं लगता है इसका कारण है हमारे ज्ञान का पराधीन, ऐन्द्रिक एवं परलक्ष्मी होना। यदि हम जगत् विषयक सत्य को अंशतः भी सही जानना चाहते हैं तो हमें अपने व्यवहार को स्वाधीन अतीन्द्रिय एवं स्वलक्षी बनाना होगा। एतदर्थ आवश्यक है कि हम यथार्थ के धरातल पर अवस्थित होकर ज्ञान एवं ज्ञेयों के स्वातन्त्र्यमूलक चिन्तन को महत्त्व दें और चेतन-अचेतन वस्तुओं की मर्यादा, अर्हता आदि को समझें। वे जैसी हैं उन्हें उनके स्वभाव से जानने का श्रम करें, तत्त्वज्ञानी बनें काल्पनिक वस्तुओं के ज्ञानी एवं अन्धविश्वासी नहीं। भारतीय संस्कृति में समादृत वैदिक या श्रमण धारा का कोई भी चिन्तन हमें अन्धस्तमस् व्यामोहों में उलझने की अनुमति नहीं देता है। अतः एक जागरूक चेता के रूप में हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम श्रुत (जैन आगम) और श्रुति (वेद) में विद्यमान उपदेशों का अभिप्राय समझें और

उनके अभिधा अर्थ मात्र के लिए मात्र क्रीतदास अथवा उनके मोहाच्छन व्यास न बनें तथा राग-द्वेषों से प्रेरित होकर उनका अर्थ न करें और न ही उनका प्रचार-प्रसार साम्प्रदायिक उन्माद के धरातल पर करें।

सत्यबोध गर्भित उन उपदेशों का यथार्थ अधिगम हमें विवक्षा संश्लिष्ट शब्दशक्तियों के सदुपयोग से करना चाहिए। एतदर्थ हम अपने बौद्धिक व्यापार को वस्तुमूलक और ईमानदार बनायें तथा जो हम समझते या मानते हैं और जिसे सही सिद्ध करना चाहते हैं उसे ही सही समझाने या प्रमाणित करने का दुस्साहस न करें। आगम, निगम, वेद, पुराण एवं तदुपजीवी वाड्.मय से वस्तु एवं वस्तुव्यवस्था का मूल्यांकन करने में बुद्धि को तार्किक एवं तात्त्विक बनाते जायें। बुद्धि को वास्तविक निकष पर कसें और वस्तुमूलक परिज्ञान में ही उसे व्यस्त रखें काल्पनिक-अन्धविश्वासमूलक वादों में नहीं। इस प्रकार के बौद्धिक व्यवसाय से संभव हो सकता है कि हम अपने अध्ययन व्यवसाय में एक ईमानदार चेता एवं निष्पक्ष ज्ञाता या व्याख्याता हैं। ऐसे ही लोगों के लिये श्रुत या श्रुति आधारित किसी भी वाद को सही समझ पाना संभव हो जाता है भले ही वह वाद कर्मवाद हो या अध्यात्मवाद; समाजवाद हो या साम्राज्यवाद; राजनैतिक प्रशासन का कोई वाद हो या आर्थिक-भौतिक प्रबन्धन का कोई वाद; भोगविलासिता की सुविधा-हासिल करने के लिए कोई वाद हो या भोगविलासिता त्यागने के व्यामोह का कोई वाद।

शास्त्रबोध के लिये सतत ईमानदार कोई भी ज्ञाता-व्याख्याता जब किसी सत्यनिष्ठ प्रयोजन की परिधि में रहकर जागतिक सत्य या शास्त्र रहस्य को जानने में लग पाता है तब ही उसे अपनी बुद्धि को हेय, उपादेय एवं ज्ञेय सापेक्ष वस्तु या तथ्य को जानने के पुरुषार्थ में व्यस्त रखने की सफलता मिल सकती है। क्या हेय है? क्या उपादेय है? क्या ज्ञेय मात्र है- यह निर्णय तो बुद्धि के लिये अत्यन्त अपरिहार्य है इसके बिना सही दिशा में कोई भी पुरुषार्थ कर पाना सर्वत्र असंभव ही है तथा असमीचीन या दिशा विहीन पुरुषार्थ कभी भी फलनिष्पत्ति का द्योतक नहीं होता है। अतः फलनिष्पत्ति के लिये कारक हमारी सम्यक् बुद्धि ही है कोई सम्प्रदाय नहीं। एतदर्थ वाद, विवाद, संवाद, परिवाद, प्रतिवाद, अतिवाद

आदि भी कारक नहीं माने जा सकते हैं।

शास्त्रों में मौजूद ऋषि प्ररूपित कर्मवाद, अध्यात्मवाद आदि में निहित हितकारी उपदेश को समझने में सम्प्रदायवाद की संकीर्णता या वर्गवाद की संघर्षशीलता अत्यन्त घातक है। यहाँ मोहाच्छन्न वादों की घातक क्षमता सम्प्रदाय या वर्ग संघर्ष से और भी सघन-सबल हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि हम महान् ऋषियों द्वारा निदर्शित कर्मवाद को साम्प्रदायिक होकर समझने की भूल न करें और न ही कर्मवाद की प्रतिपत्तियों से वर्ग संघर्ष को हवा देने का अपराध हम से हो। कर्मवाद से हम यथार्थ जीवन मूल्यों को पहिचानें और अपने परिणामों को संभालने खंगालने का कार्य करें। इसके लिये जरूरी है कि हमारी बुद्धि को अपने जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उपादेयता तथा हिंसा, असत्य, स्तेय (चौर्य), अब्रह्म (कुशील) सेवन और परिग्रह की हेयता स्वीकार्य हो। हेयोपादेयता की परिधि में रहकर जानने वाला ज्ञान ज्ञेयलुब्ध नहीं होता है जिससे उसके मोहग्रस्त होने की प्रक्रिया मन्द होती हुई बन्द हो सकती है। ऐसा ज्ञान ही किसी वस्तु या तद्विषयक उपदेश को समझने में सक्षम माना जा सकता है। भारतीय चिन्तन धारा में प्रतिष्ठित कर्मवाद को समझना हमें तभी संभव हो सकता है जब हम अपनी बुद्धि को उपर्युक्तानुसार सुयोग्य बनायें। जैन परम्परा में सुगुम्फित कर्मवाद हमारा मार्गदर्शक तभी हो सकता है जब हम तदर्थक जिज्ञासाओं का समाधान खोजना चाहते हों।

कर्म क्या है? उनके भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा का मूल्य क्या है? उन्हें समझना जरूरी क्यों है? जीवन की विविध समस्यायें, परिणतियाँ या दशायें कर्मवाद से कैसे नियन्त्रित मानीं जायें? उनका प्रभाव कार्मिक परिवेश में कहाँ तक सही है? जीव और कर्मों का परस्पर बंध क्या है और क्यों होता है? जीव कर्मों का परस्पर बंध क्या है और क्यों होता है? जीव कर्मों से बंधते हैं या कर्म जीव को बांधते हैं? किससे किसका सम्बन्ध है और उसका यथार्थ मूल्य क्या है? सांसारिक जीव में कर्मबंधन अपरिहार्य क्या है? क्या यह अपरिहार्यता वस्तु स्वातन्त्र्य की विनाशक मानी जाये? जीव और कर्मों का परस्पर संश्लेषात्मक बंध क्या एकक्षेत्रावगाह

सम्बन्ध मात्र है अथवा उनमें और भी कोई सम्बन्ध की अविनाभाविता है? निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की स्वीकृति मात्र क्या यहाँ समाधानकारक है? निमित्त एवं नैमित्तिक पदार्थों परिणामों की योग्यता का मूल्यांकन क्या यहाँ उपेक्षणीय माना जा सकता है? अथवा योग्यता के बिना किसी को भी कर्म बंध में निमित्त या नैमित्तिक स्वीकारना हमें संभव है क्या? क्या निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध को कर्त्ताकर्म के रूप में स्वीकार किया जा सकता है? निमित्त कर्त्ता है और नैमित्तिक कर्म है- यह प्रतिपत्ति हमें क्या सूचित करती है? क्या इसे सर्वथा-शाश्वत सत्य माना जा सकता है- निमित्त नैमित्तिक संबन्धों की अपरिहार्यता क्यों है और क्यों हमें उस परिधि में कर्त्ता कर्म विषयक व्यवहार स्वीकार्य है? क्या निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध वस्तुमूलक योग्यता को नकारता है? क्या निमित्त वस्तु नैमित्तिक वस्तु की योग्यता को बदल सकती है या नैमित्तिक वस्तु की योग्यता उससे प्रभावित होकर स्वयं क्रियान्वित होती है? जैनकर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में कर्मों का उदय निमित्त एवं जीवगत तादृश परिणाम नैमित्तिक हैं तो जीवगत परिणामों को निमित्त एवं कर्मबन्ध को नैमित्तिक मानना भी असंभव नहीं है। इस प्रकार कर्मबन्धन में पड़े संसारी जीवों के लिये कर्म और जीव परस्पर निमित्त नैमित्तिक दोनों रूपों में स्वीकार्य हो जाते हैं? कर्म निमित्त है तो नैमित्तिक भी है निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की परिधि में जीवों के संसरण एवं उनकी समस्त सांसारिक अवस्थाओं को यथार्थ के धरातल पर समझने-समझाने में जैनकर्मसिद्धान्त की महती भूमिका है।

जैनकर्मसिद्धान्त से ज्ञात हो जाता है कि प्रत्येक जीव का संसरण चक्र अनादि काल से गतिशील है। जीव और कर्म ही अनादि हैं, जिनका परस्पर निमित्त नैमित्तकपना जीवन की विभाव परिणतियों तथा कर्मों के बंधोदय आदि के रूप में सादि सान्त है। कोई भी ऐसा कर्म नहीं है जो अनादि से जीव के साथ बंधा हो परन्तु सतत परम्परा के चलते रहने से जीव को कर्मबंध अनादि से माना जाता है। जगत् में मौजूद प्राणियों के जीवन व्यवहारों और नानाविध संयोग वियोगों की तथ्यात्मक जानकारी उनके कार्मिक परिवेश के बिना असंभव है।

संसार में जीवों की हर भूमिका कर्माधारित क्यों है? चतुर्गति

परिमित जीवों के जन्ममरण रूप भवसंक्रमण में कर्मों की भूमिका क्या है? क्या कारण है कि पराधीन होकर जीव प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हो जाता है और अपना जीवन केवल मानसिक भौतिक या दैहिक सुख दु:खों की वैतरणी में खपा देता है तथा इन्द्रिदयज्ञान और इन्द्रियजसुख के लिये ही अपने सम्पूर्ण जीवन को भोगाभिलाषा रूपी अग्नि में होमते रहता है। इसका कारण कर्मबन्धन है तो वह क्यों होता है और किस रूप में जाना जाये। द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म में परस्पर सम्बन्ध की अवधारणा क्या है? इनमें जीव के पुरुषार्थ की भूमिका कहाँ और कैसी है? जीव को कर्मबन्धन क्यों होता है तथा जीव उससे मुक्त कब और कैसे हो सकता है? कर्मबन्धन से तथा तज्जन्य जागतिक प्रपञ्च से बचने का उपाय क्या है? क्या वह उपाय कर पाना हमारे लिये संभव है? यदि हाँ तो तद्विषयक पुरुषार्थ का औचित्य क्या है? जीव के लिये कर्म का बंध और मोक्ष क्यों, कैसे और कहाँ होते हैं? क्या ये दोनों परिणतियाँ जीव में पराधीन परिणतियाँ मात्र हैं? तथा जीव के लिये उनका औचित्य क्या है? क्या वह केवल कर्मों के संयोग वियोग तक ही सीमित है? अथवा उनके होने में या होते रहने में कोई और भी अपरिहार्यतायें मानीं गयी हैं। क्या कर्मों से जीव की या जीव से कर्मों की स्वतंत्रता का हनन होता है? क्या दोनों ही अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ता के द्योतक नहीं हैं? क्या उनमें परस्पर किसी की सत्ता को बदलने-परिणमाने की अर्हता है? क्या कारण है कि स्वतंत्र जीव और कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल कभी भी अपनी-अपनी परित्याग नहीं करते हैं और न ही परस्पर एक दूसरे की सत्ता का परित्याग नहीं करते हैं और न ही परस्पर एक दूसरे की सत्ता का आहरण-अपहरण करते हैं। जीव और पुद्गल कर्मों में परस्पर अत्यन्ताभाव है यह क्यों प्ररूपित किया गया है? जीव और पुद्गल कर्मों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धों की अपरिहार्यता को जानने में उनकी योग्यता को ही महत्व क्यों दिया जाता है। जो जीव परिणाम कर्मबंध में निमित्त है वही कर्मोदय के होने पर कर्मबंध के होने से नैमित्तिक भी हैं क्या यह योग्यता का अनुसरण नहीं है? इत्यादि अनेकानेक जिज्ञासाओं का समाधान करने की क्षमता जैनकर्मसिद्धान्त में दृष्टिगोचर होती है। जीवनमूल्यों की विविधप्रस्थापनाओं

एवं पारस्परिक सम्बन्धों की यथार्थता को उजागर करने में जैनकर्मसिद्धान्त की महती भूमिका मानी जा सकती है। जैनकर्मसिद्धान्त प्राणियों के जीवन में दृष्टिगत मन-वचन-काय विषयक भौतिक कार्य (स्थूल कर्म) मोह-ममता, क्रोधादिक संवेदनापरक कार्य (सूक्ष्म कर्म) और ज्ञानावरणादिक के बंधोदयादिक कार्य ((अति सूक्ष्म कर्म) के परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों की साक्षी में प्राणीगत जीवनमूल्यों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्थित पद्धति को प्रस्तुत करता है। इसलिये इस प्रकार की ज्ञानविधा या विचारधारा को ही कर्मवाद कहना संभव है। प्राय: सभी भारतीय दर्शन शास्त्रों में कर्मवाद की विविध अवधारणायें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वीकृत हुई हैं।

जैनकर्मसिद्धान्त के आलोक में जैनदार्शनिक सचमुच ही कर्मवाद की सुव्यस्थित एवं सटीक प्ररूपणा जिस व्यापाक पटल पर करते हैं उससे जीवन मूल्य विषयक चिरन्तन सत्यों की अभिव्यञ्जना होती है। जहाँ हम प्राणी जगत् के समूचे व्यवहारों को निमित्त-नैमित्तिक परिवेश में समझने की क्षमता अर्जित कर लेते हैं। यदि हम मनुष्यजीवन में व्याप्त आमूलचूल जीवन व्यवहारों को व्यवस्थित ज्ञान की कसौटी पर कसकर उनकी समीचीनता को जानना चाहें तो जैनकर्मसिद्धान्त अपनी विविधप्ररूपणाओं से हमें संतुष्ट करने में सक्षम है और सर्वत्र अपनी अदूषित एवं पूर्वापरविरोधशून्य प्ररूपणायें करने वाला होने से अपराजेय ही अधिगत होता है। इस परिचिति के लिये कर्मवाद के परिज्ञापक जिन आधारभूत तथ्यों को जानना जरूरी है वे हैं-

1. जैनकर्मसिद्धान्त का मूल लक्ष्य जीवों को मुक्ति की अवधारणा से परिचय कराना है और तदर्थ पुरुषार्थ हेतु उन्हें प्रेरित करना है।
2. जैनकर्मसिद्धान्त वस्तुस्वातंत्र्य का ही समर्थक है और संसारी आत्माओं को पूर्ण स्वतंत्र या स्वाधीन होने हेतु मुक्ति पुरुषार्थ को प्रेरणा देता है।
3. जैनकर्मसिद्धान्त कोरी कल्पनाओं एवं अन्धविश्वासजन्य अवधारणाओं का समर्थक एवं परतंत्रता का प्रस्थापक नहीं है।
4. प्राणीजगत् के रहस्यों एवं जीवनमूल्यों को जैनकर्मसिद्धान्त से यथार्थ रूप में समझना हम सबको संभव है।

5. ईश्वरवाद की अवधारणायें जैनकर्मसिद्धान्त की परिपोषक नहीं है प्रत्युत उससे विरूद्ध ही ज्ञापित होती है। क्योंकि ईश्वरवाद में ईश्वर को ही सर्वविध सम्पूर्ण कार्यों या क्रियाकलापों का कर्ता या नियन्ता मान लिया गया है। यहाँ वह करने के लिये, नहीं करने के लिये और अन्यथा करने के लिये समर्थ मान लिया गया है (कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं यः समर्थः स ईश्वरः) किन्तु विचार करने पर यह अवधारणा कपोल-कल्पित अर्थात् अहेतुक ही सिद्ध होती है।

6. जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार संसरणशील प्राणियों के जीवन व्यवहार विषयक क्रियाकलापों या कार्यों के होने में कर्म को मात्र निमित्त ही माना गया है। कर्म जीवों की योग्यता के बिना उन्हें संसरण नहीं कराता है और न ही उनके कार्यों या क्रियाकलापों को करता है।

7. ईश्वरवाद में ईश्वर को ही कर्त्ता मानने का पूर्णतया समर्थन है। जिससे ईश्वरवाद को मानने वाले प्राणी कर्तृत्वजन्य अहंकार से ग्रसित देखे जाते हैं। जैनकर्मवाद में ऐसी कोई संभावना नहीं है।

8. ईश्वरवाद में सभी प्राणी परतन्त्र ही ज्ञापित होते हैं। यहां ईश्वर को ही सर्वशक्तिमान बताकर यह द्योतित कर दिया गया है कि प्राणियों का स्वतंन्त्रत रहना या परतन्त्र होना ईश्वर के अधीन ही है। जैनकर्मवाद जीव और कर्मों को परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों की परिधि में देखता है तथा दोनों की स्वतंत्रता का ही बोध हमें करा देता है।

9. ईश्वरवाद में सभी प्राणी को कर्मों को फल ईश्वर देता है। यद्यपि प्राणियों के अदृष्टानुसार ही वह उन्हें फल देने की प्रक्रिया अपनाता है। जबकि जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार प्राणियों को अपने कर्मों का फल उसके द्वारा ही संचित या बांधे गये कर्मों में निहित सामर्थ्य के निमित्त से स्वयं मिलता है।

10. जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार प्राणी अपनी योग्यता के अनुरूप पुरुषार्थ करके स्वयं ही कर्मबन्धन में पड़ता है और अपने ही मुक्त होने योग्य पुरुषार्थ से मुक्त भी हो सकता है।

11. जैनकर्मसिद्धान्त से यह प्रतिपादित होता है कि जीवों का संसरण होना एवं उन्हें सुख दुःख का परिभोग होनो उनके स्वयं के योग्यतामूलक

पुरुषार्थ पर निर्भर है। इसमें कर्मों के उदयादि की भूमिका भी निमित्तपने में अपरिहार्य होती है। यहाँ कर्म और जीव के परिणामों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ही ज्ञात होता है, कर्तृकर्मसम्बन्ध नहीं।

12. आत्मा (जीव) और कर्मप्रकृतियों में जब तक विवेक ख्याति नहीं होती है तब तक जीव का संसार बना रहता है तथा जब वह उन दोनों को उनके अपने-अपने स्वरूप से जानकर विवेक सम्पन्न होता है तो यथोचित पुरुषार्थ से संसार से मुक्त होता जाता है। इस प्रकार जैनकर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में फलित होता है कि जीव दोनों ही परिस्थितियों के लिये स्वयं ही स्वतंत्र है।

13. जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार विवेकख्याति किं वा भेदविज्ञान से जीव की बुद्धि जब स्वतत्त्व निष्ठ होती है अर्थात् स्व शुद्धात्मा की शरण को ले लेती है तो जीव से बंधे कर्मों का पार्थक्य होने लगता है परिणामतः जीव को कर्मों से मुक्ति मिलने पर सुख भी मिल जाता है।

14. कर्मवाद अशुभ से बचकर शुभ में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है परन्तु उसका लक्ष्य पुनः अशुभ की ओर उन्मुख होने की छूट देना कतई नहीं है। जैनकर्मसिद्धान्त के उपदेश से यह ज्ञात हो जाता है कि जीव कर्मबन्धन में बने रहने के लिये नहीं अपितु उससे मुक्त होने का ही पुरुषार्थ करे। कर्मों से मुक्ति पाना ही जीव का चरम लक्ष्य है और उसे ज्ञापित करना कर्मसिद्धान्त का।

15. जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक संसारी जीवों में उनके संसरण का कारण कर्म ही है। यहाँ कर्म भी त्रिविध माना गया है- भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म। इनमें भावकर्म तो जीव का मोह राग द्वेष रूप स्वकीय विकारी परिणाम ही है। जीव में होने वाले इन विकारी परिणामों के होने में निमित्त कारण हैं तो नोकर्म बहिरंग निमित्त कारण।

16. जैनकर्मवाद की अवधारणा से फलित होता है कि संसारी प्राणियों का जीवन चक्र जीवगत भावकर्मों, पुद्गल स्वरूप द्रव्यकर्मों एवं नोकर्मों में परस्पर जायमान निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की मर्यादा में ही चलता रहता है। यहाँ प्राणियों में होने वाले बन्धन या मुक्ति विषयक कार्यों अथवा पुरुषार्थों का आकलन निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों की परिधि में ही

होता है उन जीवपरिणामों को नैमित्तिक के रूप में औदयिक आदि कहा जाता है। उभयत्र अर्थात् निमित्त और नैमित्तिक दोनों ही प्रकार के परिणमन में योग्यता का ही वर्चस्व स्वीकृत होता है अर्थात् कोई भी पदार्थ या परिणाम अपनी योग्यता के अनुरूप ही निमित्त या नैमित्तिक कहलाता है। अत: निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों में योग्यता को भूलना असंभव है। जो लोक निमित्त नैमित्तिक का आकलन उनकी योग्यता को दरकिनार करके करते हैं वे वस्तुत: निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों के यथार्थ बोध से अछूते ही रहते हैं। उन्हें कर्मवादीय तत्त्वों को जैनकर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में समझ पाना असंभव ही रहता है। बुद्धि में कर्मों को मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से जान लेना तथा कर्मों के बंधव्युच्छिति, उदयव्युच्छिति आदि को शास्त्रानुसार रट लेना जैनकर्मसिद्धान्त का अधिगम नहीं है अपितु जीवपरिणामों और कर्म की विविध दशाओं में अविनाभावपने से विद्यमान पारस्परिक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों को पहिचान कर वस्तु स्वतन्त्रता के बोध से संतुष्ट होने पर ही जैनकर्मसिद्धान्त का अधिगम संभव है।

17. जीव और कर्मद्रव्यों के बीच मौजूद निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों के बल पर ही औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं परिणामिक भावों को जीव के असाधारण भाव जीव की परिचिति कराने के लिये ही कहा गया है। जैनकर्मसिद्धान्त को समझने के लिये इन्हें आधारभूत तत्त्व माना जा सकता है। यहाँ जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव ऐसे नैमित्तिक परिणाम हैं जिनके होने में क्रमश: कर्मों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय रूप निमित्त का सद्भाव रूप से होना अपरिहार्य होता है तो जीव के परिणामिक भावों के होने में कर्मों के उदय आदि निमित्तों का न होना भी अभावपने से अपरिहार्य कारण है।

18. सामान्यत: संसारिप्राणियों में जब पर पदार्थों को जानने का पुरुषार्थ होता है तो उनमें मोह राग-द्वेष आदि विकारी भावों की प्रादुर्भूति होती है जिससे जीव कर्मबंध के चक्र में बना रहता है। किन्तु जब वह पर पदार्थों को जानने के व्यापार से विरत होकर स्व अर्थात् अपने ज्ञायकभाव को ही जानने का पुरुषार्थ करता है तो मोह कर्मों के उपशम या क्षय या क्षयोपशम से वह कर्मबंध के चक्र से बाहर निकल जाता है। जैनकर्मसिद्धान्त

जीव के इन दोनों ही पुरुषार्थों की अधिगति कराता है। अतः इस दृष्टि से जीव का वह पुरुषार्थ ही कर्मवाद का मूल आधार तत्त्व माना जा सकता है जिससे जीव में मोहरागादि परिणाम पैदा होते हैं अथवा मिटते है। इस प्रकार जैनकर्मवाद मुख्यता से जीवाधारित ही ज्ञात होता है तथापि जीव और पुद्गलों के परिणमन में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों की उपेक्षा जैनकर्मसिद्धान्त में अभ्युपगत नहीं है। वस्तु स्वातन्त्र्य का हनन भी जैनकर्मसिद्धान्त से पुरस्कृत नहीं होता है अपितु वह अपनी विशिष्ट प्ररूपणा से वस्तु स्वातन्त्र्य को ही फलित करता है।

19. जैन परम्परा में वाङ्मय स्वरूप कर्मसिद्धान्त का मूल आधार जितेन्द्रिय जिन अर्थात् पूर्ण वीतरागी एवं सर्वज्ञ स्वरूप अर्हन् परमेष्ठी की देशना को माना गया है। तदनुगामी वाङ्मय जो आज उपलब्ध है उसे दिगम्बर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जानकर कर्मसिद्धान्त के रहस्य को समझा जा सकता है। पेज्जदोसपहुदी (कषायपाहुड), छक्खंडागमो (षट्खण्डागम) एवं तदुपजीवी धवला, महाधवला, गोम्मटसार-जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड प्रभृति दिगम्बर ग्रंथों को तथा बन्धशतक कम्मपयडी (कर्मप्रकृति), सप्ततिका, पंचसंग्रह आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों को जैनकर्मवाद को आधार वाङ्मय की दृष्टि से माना जा सकता है।

- जैनदर्शन विभाग, रा.संस्कृत संस्थान,
जयपुर परिसर, गोपालपुरा बाईपास,
जयपुर (राजस्थान)

भारतीय दर्शनों में अनेकान्तवाद के तत्त्व : एक ऐतिहासिक विवेचन

- प्रो. सागरमल जैन

अनेकांतवाद को मुख्यत: जैनदर्शन का पर्याय माना जाता है। यह कथन सत्य भी है, क्योंकि अन्य दार्शनिकों ने उसका खण्डन उसके इसी सिद्धान्त के आधार किया जाता है, दूसरी ओर अनेकांतवाद को जैनदर्शन का पर्याय मानना समुचित भी है, किन्तु उसका यह भी अर्थ नही है कि अन्य भारतीय दर्शन भी ऐतिहासिक कालक्रम में विकसित हुए हैं। सबसे प्राचीन वेद हैं, उनके बाद उपनिषदों का क्रम आता है। दर्शनों में **सांख्य दर्शन** पुराना है, उसके बाद 'योग' का क्रम आता है। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन न्याय की अपेक्षा पुराना है। मीमांसा के बाद वेदान्त का क्रम आता है। सत्ता के सम्बन्ध में अनेकान्तवाद एक अनुभूत सत्य है और अनुभूत सत्य को स्वीकार करना ही होता है। विवाद या मत-वैभिन्य अनुभूति के आधार पर नहीं, उसकी अभिव्यक्ति के आधार पर होता है। अभिव्यक्ति के लिए भाषा का सहारा लेना होता है, किन्तु भाषायी अभिव्यक्ति अपूर्ण-सीमित और सापेक्ष होती है। अत: उसमें मतभेद होता है और उन मतभेदों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करने या उन परस्पर विरोधी कथनों के बीच समन्वय लाने के प्रयास में ही अनेकांतवाद का जन्म होता है। वस्तुत: अनेकान्तवाद या अनैकान्तिक दृष्टिकोण का विकास निम्न तीन आधारों पर होता है-

1. बहु-आयामी वस्तुतत्व सम्बन्ध में एकान्तिक विचारों या कथनों का निषेध।
2. भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं के आधार पर बहुआयामी वस्तुतत्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत विरोधी कथनों की सापेक्षिक सत्यता की स्वीकृति।
3. परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली विचार धाराओं को समन्वित करने का

प्रयास।

वेदों में प्रस्तुत अनेकान्त दृष्टि :

प्रस्तुत आलेख में हमारा प्रयोजन उक्त अवधारणाओं के आधार पर जैनेतर भारतीय चिंतन में अनैकान्तिक दृष्टिकोण कहां-कहां किसी रूप में उल्लेखित है इसका दिग्दर्शन कराना है।

भारतीय साहित्य में वेद प्राचीनतम है। उनमें भी ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। **ऋग्वेद** न केवल परमतत्व के सत् और असत् पक्षों को स्वीकार करता है अपितु इनके मध्य समन्वय भी करता है। ऋग्वेद के नासदीयसूक्त (10/129/1) में परमतत्व के सत् या असत् होने के सम्बन्ध में, न केवल जिज्ञासा प्रस्तुत की गई अपितु ऋषि ने यह भी कह दिया कि परम सत्ता को हम न सत् कह सकते हैं और न असत्। इस प्रकार वस्तुतत्व ही बहु-आयामिता और उसमें अपेक्षा भेद से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों की युगपद् उपस्थिति की स्वीकृति हमें वेद काल से ही मिलने लगती है। मात्र इतना ही नहीं, ऋग्वेद का यह कथन- **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** (1/164/46)' इस कथन में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उनमें समन्वय करने का प्रयास ही तो है। इस प्रकार हमें अनेकान्तिक दृष्टि के अस्तित्व के प्रमाण **ऋग्वेद** के काल से ही मिलने लगते हैं। यह बात न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा अनेकान्तिक दार्शनिक दृष्टि की स्वीकृति की सूचक है, अपितु इस सिद्धान्त की त्रैकालिक सत्यता और प्राचीनता की भी सूचक है। चाहे विद्वानों की दृष्टि में सप्तभंगी का विकास एक परवर्ती घटना हो, किन्तु अनेकान्त तो उतना ही पुराना है जितना **ऋग्वेद** का यह अंश। ऋग्वेदिक ऋषियों के समक्ष सत्ता या परमतत्व के बहु-आयामी होने का पृष्ठ खुला हुआ था और यही कारण है कि वे किसी ऐकान्तिक दृष्टि में आबद्ध होना नहीं चाहते थे। ऋग्वेद के दशम मण्डल का नासदीय सूक्त (10/129/1) इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण है-

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजों न व्योमं परो यत्

सत्य तो यह है है कि उस परमसत्ता को जो समस्त अस्तित्व के

मूल में है, सत् असत्, उभय, या अनुभय को किसी एक कोटि में आबद्ध करके नहीं कहा जा सकता है दूसरे शब्दों में उसके सम्बन्ध में जो भी कथन किया जा सकेगा वह भाषा की सीमितता के कारण सापेक्ष ही होगा निरपेक्ष नहीं। यही कारण है कि वैदिक ऋषि की उस परमसत्ता या वस्तुतत्व को सत् या असत् नहीं कहना चाहता है, किन्तु प्रकारान्तर से वे उसे सत् भी कहते हैं- यथा- एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं (1/164/46) और असत् भी कहते हैं यथा- देवानां युगे प्रथमेअसतः सदजायत (10/72/3) इससे यही फलित होता है कि वैदिक ऋषि अनेकान्त दृष्टि के ही सम्पोषक रहे हैं।

औपनिषदिक साहित्य में अनेकान्तवाद :

न केवल वेदों में, अपितु उपनिषदों में भी अनेकान्तिक दृष्टि के उल्लेख के अनेकों संकेत उपलब्ध हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परमसत्ता के बहुआयामी होने और उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्मों की उपस्थिति के संदर्भ मिलते हैं। जब हम उपनिषदों में अनेकान्तिकदृष्टि के संदर्भों की खोज करते हैं जो उनमें हमें तीन प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं-

1. अलग-अलग संदर्भों में परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रस्तुतीकरण।
2. ऐकान्तिक विचारधाराओं का निषेध।
3. परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय का प्रयास।

सृष्टि का मूलसत् या असत् था, इस समस्या के संदर्भ में हमें उपनिषदों में दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं के संकेत उपलब्ध होते हैं। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (2.7) में कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् ही था उसी से सत् उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार की पुष्टि **छान्दोग्योपनिषद्** (3/19/1) सें भी होती है। उसमें भी कहा गया है कि सर्वप्रथम असत् ही था उसी से सत् हुआ और सत् से सृष्टि हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों में असत् वादी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ, किन्तु इसी के विपरीत उसी **छान्दोग्योपनिषद्** (6/2/1,3) में यह भी कहा गया कि पहले अकेला सत् था, दूसरा कुछ नहीं था, उसी से यह सृष्टि हुई है। बृहदारण्यकोपनिषद् (1/4/1-4) में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए

कहा गया है कि जो कुछ भी सत्ता है उसका आधार लोकातीत सत् ही है। प्रपंचात्मक जगत् इसी सत् से उत्पन्न होता है।

इसी तरह विश्व का मूलतत्व जड़ है या चेतन इस प्रश्न को लेकर उपनिषदों में दोनों ही प्रकार के संदर्भ उपलब्ध होते हैं। एक ओर **बृहदारण्यकोपनिषद्** (2/4/12) में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी से कहते हैं कि चेतना इन्हीं भूतों में से उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन हो जाती है तो दूसरी ओर **छान्दोग्योपनिषद्** (6/2/1,3) में कहा गया है कि पहले अकेला सत् (चित्त तत्व) ही था दूसरा कोई नहीं था। उसने सोचा कि मैं अनेक हो जाऊँ और इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी तथ्य की पुष्टि **तैत्तिरीयोपनिषद्** (2/6) से भी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं उपनिषदों में परस्पर विरोधी विचारधारायें प्रस्तुत की गयी है। यदि ये सभी विचारधारायें सत्य हैं तो इससे औपनिषदिक ऋषियों की अनेकान्त दृष्टि का ही परिचय मिलता है। यद्यपि ये सभी संकेत एकान्तवाद प्रस्तुत करते हैं, किन्तु विभिन्न एकान्तवादों की स्वीकृति में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है। अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि औपनिषदिक चिन्तन में विभिन्न एकान्तवादों को स्वीकार करने की अनैकान्तिक दृष्टि अवश्य थी। पुनः उपनिषदों में हमें ऐसे भी संकेत मिलते हैं जहां एकान्तवाद निषेध किया गया है। **बृहदारणयकोपनिषद्** (3/8/8) में ऋषि कहता है कि 'वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं है और दीर्घ भी नहीं है।' इस प्रकार यहाँ हमें स्पष्टतया एकान्तवाद का निषेध प्राप्त होता है। एकान्त के निषेध के साथ-साथ सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की उपस्थिति के संकेत भी हमें उपनिषदों में मिल जाते हैं। **तैतिरीययोपनिषद्** (2/6) में कहा गया है कि वह परम सत्ता मूर्त-अमूर्त वाच्य-अवाच्य, विज्ञान (चेतन)-अविज्ञान (जड़), सत्-असत् रूप है। इसी प्रकार कठोपनिषद् (1/20) में उस परम सत्ता को अणु की अपेक्षा भी सूक्ष्म व महत् की अपेक्षा भी महान् कहा गया है। यहाँ परम सत्ता में सूक्ष्मता और महत्ता दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म एक साथ स्वीकार करने का अर्थ अनेकान्त स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकता है? पुनः उसी उपनिषद् (3/12) में एक ओर आत्मा को ज्ञान का विषय

बताया गया है। जब इसकी व्याख्या का प्रश्न आया तो आचार्य शंकर को भी कहना पड़ा कि यहाँ अपेक्षा भेद से जो अज्ञेय है उसे ही सूक्ष्म ज्ञान का विषय बताया गया है। यही उपनिषदों का अनेकान्त है। इसी प्रकार **श्वेताश्वतरोपनिषद्** (1/7) में भी उस परम सत्ता को क्षर एवं अक्षर, व्यक्त एवं अव्यक्त ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी सत्ता या परमतत्व की बहुआयामिता या अनैकान्तिकता स्पष्ट होती है। मात्र यही नही यहाँ परस्पर विरूद्ध धर्मों की एक साथ स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि उपनिषादकारों की शैली अनेकान्तात्मक रही है। यहाँ हम देखते हैं कि उपनिषदों का दर्शन जैन दर्शन के समान ही सत्ता में परस्पर विरोधी मतवादों के समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषद्कारों ने न केवल समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषदकारों ने न केवल एकान्त का निषेध किया, अपितु सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकृति भी प्रदान की है। जब औपनिषदिक ऋषियों को यह लगा होगा कि परमतत्व में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की एक साथ ही स्वीकृति तार्किक दृष्टि से युक्तिसंगत नही होगी तो उन्होंने उस परमत्व को अनिर्वचनीय या अवक्तव्य भी मान लिया। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (2) यह कहा गया है कि वहाँ वाणी की पहुँच नही है और उसे मन के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता (यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।) इससे ऐसा लगता है कि उपनिषद् काल में सत्ता के सत्, असत्, उभय और अवक्तव्य/अनिर्वचनीय- ये चारों पक्ष स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु औपनिषदिक ऋषियों की विशेषता यह है कि उन्होंने उन विरोधों के समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसका सबसे उत्तम प्रतिनिधित्व हमें ईशावास्योपनिषद् (4) में मिलता है। उसमें कहा गया है-

''अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्''

अर्थात् वह गतिरहित है फिर भी मन से वह देवों से भी तेज गति करता है। **''तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके''**, अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है वह दूर भी है, पास भी है। इस प्रकार उपनिषदों में जहाँ विरोधी प्रतीत होने वाले अंश है, वहीं उनमें समन्वय को मुखरित

करने वाले अंश भी प्राप्त होते हैं। परमसत्ता के एकत्व-अनेकत्व, जड़त्व-चेतनत्व आदि इन विविध आयामों में से किसी एक को स्वीकार कर उपनिषद् काल में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का उदय हुआ। जब ये दृष्टियाँ अपने-अपने मन्तव्यों को ही एकमात्र सत्य मानते हुए, दूसरे का निषेध करने लगी तब सत्य के गवेषकों को एक ऐसी दृष्टि का विकास करना पड़ा जो सभी की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उन विरोधी विचारों का समन्वय कर सके। यह विकसित अनेकान्त दृष्टि ही है, जो वस्तु में प्रतीति के स्तर पर दिखाई देने वाले विरोध के अन्तस में अविरोध को देखती है और सैद्धान्तिक द्वन्द्वों के निराकरण का एक व्यावहारिक एवं सार्थ समाधान प्रस्तुत करती है। वह उन्हें समन्वय के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास भी करती है।

ईशावास्य में पग-पग पर अनेकान्त जीवन दृष्टि के संकेत प्राप्त होते हैं। वह अपने प्रथम श्लोक में ही **''तेन त्यक्तेन भञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्''** त्याग एवं भोग- इन दो विरोधी तथ्यों का समन्वय करता है एवं एकान्त त्याग और एकान्त भोग दोनों को सम्यक् जीवन दृष्टि के लिए अस्वीकार करता है। जीवनयात्रा त्याग और भोगरूपी दोनों चक्रों के सहारे चलती है। इसी प्रकार **ईशावास्य** सर्वप्रथम अनेकान्त की व्यावहारिक जीवनदृष्टि को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार कर्म अकर्म सम्बन्धी एकान्तिक विचारधाराओं में समन्वय करते हुए **ईशावास्य (२)** कहता है कि **''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छताँ समाः''** अर्थात् मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष जीये। निहितार्थ यह है कि जो कर्म सामान्यतया सकाम या सप्रयोजन होते हैं वे बन्धनकारक होते हैं, किन्तु यदि कर्म निष्काम भाव से बिना किसी स्पृहा के हों तो उनसे मनुष्य लिप्त नहीं होता, अर्थात् वे बन्धन कारक नहीं होते। निष्काम कर्म की यह जीवनदृष्टि व्यावहारिक जीवनदृष्टि है। भेद-अभेद का व्यावहारिक दृष्टि से समन्वय करती है उसी में आगे कहा गया है-

यस्तु सर्वाणि भूतानन्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ (ईशा.६)

अर्थात् जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और आत्मा में सभी

प्राणियों को देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता। यहाँ जीवात्माओं में भेद एवं अभेद दोनों को एक साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ भी ऋषि की अनेकान्तदृष्टि परिलक्षित होती है जो समन्वय के आधार पर पारस्परिक घृणा करने की बात कहती है।

एक अन्य स्थल पर विद्या (अध्यात्म) और अविद्या (विज्ञान) (**ईशा.**10) में तथा सम्भूति (कार्यब्रह्म) एवं असम्भूति (कारणब्रह्म) (**ईशा.**12) अथवा वैयक्तिकता और सामाजिकता में भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है। ऋषि कहता है कि जो अविद्या की उपासना करता है वह गहन अन्धकार में प्रवेश करता है किन्तु जो मात्र विद्या (आत्मज्ञान) की उपासना करता है, वह उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करता है (**ईशा.**9) और वह जो दोनों का जानता है या दोनों का समन्वय करता है वह अविद्या से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर विद्या से अमृत तत्व को प्राप्त करता है। (**ईशा.**11)। यहाँ विद्या और अविद्या अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान की परस्पर समन्वित साधना अनेकान्त दृष्टि के व्यवहारिक पक्ष को प्रस्तुत करती है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्ता की बहु आयामिता और समन्वयवादी व्यावहारिक जीवन दृष्टि का अस्तित्व बुद्ध और महावीर से पूर्व उपनिषदों में भी था, जिसे अनेकान्त दर्शन का आधार माना जा सकता है।

सांख्य दर्शन में अनेकान्तवाद :

भारतीय षड्दर्शनों में सांख्य एक प्राचीन दर्शन है। इसकी कुछ अवधारणाएं हमें उपनिषदों में भी उपलब्ध होती है। यह भी जैन दर्शन के जीव एवं अजीव की तरह पुरुष एवं प्रकृति ऐसे दो मूल तत्व मानता है उसमें पुरुष को कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य माना गया है। इस प्रकार उसके द्वैतवाद में एक तत्व परिवर्तनशील और दूसरा अपरिवर्तनशील है। इस प्रकार सत्ता के दो पक्ष परस्पर विरोधी गुणधर्मों से युक्त है। फिर भी उनमें एक सह-सम्बन्ध है। पुनः यह कूटस्थ नित्यता भी उस मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में है, जो प्रकृति से अपनी पृथक्ता अनुभूत कर चुका है। सामान्य संसारी जीव/ पुरुष में तो प्रकृति के संयोग से अपेक्षा भेद से नित्यत्व और परिणामित्व दोनों ही मान्य किये जा सकते

हैं। पुनः प्रकृति तो जैन दर्शन के सत् के समान परिणामी नित्य मानी गई हैं अर्थात् उसमें परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों विरोधी गुणधर्म अपेक्षा भेद से रहे हुए हैं। पुनः त्रिगुण-सत्त्व, रजस् और तमस् परस्पर विराधी है, फिर भी प्रकृति में वे तीनों एक साथ रहते हैं। सांख्य दर्शन का सत्त्वगुण स्थिति का, रजोगुण उत्पाद या क्रियाशीलता का, तमोगुण विनाश या निष्क्रियता का प्रतीक है। अतः मेरी दृष्टि में सांख्य का त्रिगुणात्मकता का सिद्धान्त और जैनदर्शन का उत्पाद-व्यय और ध्रोव्यात्मकता का सिद्धान्त एक दूसरे से अधिक दूर नहीं है। सत्ता की बहु-आयामिता और परस्पर विरोधी गुणधर्मों की युगपद् अवस्थिति यही तो अनेकान्त है। द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता जैन दर्शन के समान सांख्य को भी मान्य है। पुनः प्रकृति और विकृति दोनों परस्पर विरोधी हैं किन्तु सांख्य दर्शन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों गुण पाये जाते हैं। सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से वह प्रवृत्यात्मकता और मुक्त पुरुष अपेक्षा से निवृत्यात्मकता देखी जाती है। इसी प्रकार पुरुष में अपेक्षा भेद से भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व दोनों गुण देखे जाते हैं, चाहे वह प्रकृति के निमित्त से ही क्यों नही हो। संसार दशा में पुरुष में ज्ञान-अज्ञान, कर्तृत्व-अर्कृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व ये विरोधी गुण रहते हैं। सांख्य दर्शन की इस मान्यता का समर्थन महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में अनुगीत के 47वें अध्ययन के 7वे श्लोक में मिलता है- उसमें लिखा है-

यो विद्वान्सहवासं च विवासं चैवं पश्यति।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते॥

अर्थात् जो विद्वान् जड़ और चेतन के भेदाभेद को तथा एकत्व और भेद को देखता है वह दुःख से छूट जाता है। जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) का यह भेदाभेद तथा एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की यह दृष्टि अनेकान्तवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकती है? वस्तुतः सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति में आत्यन्तिक भेद माने बिना मुक्ति/ कैवल्य की अवधारणा सिद्ध नही होगी, किन्तु दूसरी ओर उन दोनों में आत्यन्तिक अभेद मानेंगे तो संसार की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। संसार की व्याख्या के लिए उनमें आंशिक या सापेक्षिक अभेद

और मुक्ति की व्याख्या के लिए उनमें सापेक्षिक भेद मानना भी आवश्यक है। पुनः प्रकृति और पुरुष को स्वतन्त्र तत्त्व मानकर भी किसी न किसी रूप में उसमें उन दोनों की पारस्परिक प्रभावकता तो मानी गई है। प्रकृति में जो विकार उत्पन्न होता है वह पुरुष का सान्निध्य पाकर ही होता है। इसी प्रकार हम चाहे बुद्धि (महत्) और अहंकार को प्रकृति का विकार मानें, किन्तु उनके चैतन्य रूप में प्रतिभाषित होने के लिए उनमें पुरुष का प्रतिबिम्बित होना तो आवश्यक है। चाहे सांख्य दर्शन बन्धन और मुक्ति को प्रकृति के आश्रित माने, फिर भी जड़ प्रकृति के प्रति तादात्म्य बुद्धि का कर्ता तो किसी न किसी रूप में पुरुष को स्वीकार करना होगा, क्योंकि जड़ प्रकृति के बन्धन और मुक्ति की अवधारणा तार्किक दृष्टि से सबल सिद्ध नहीं होती है।

वस्तुतः द्वैतवादी दर्शनों- चाहे वे सांख्य हों या जैन, की कठिनाई यह है कि उन तो तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया या उनमें आंशिक तादात्म्य माने बिना संसार और बन्धन की व्याख्या सम्भव नहीं होती है और दोनों को एक दूसरे से निरपेक्ष या स्वतंत्र माने बिना मुक्ति की अवधारणा सिद्ध नही होती है। अतः किसी न किसी स्तर पर उनमें अभेद और किसी न किसी स्तर पर उनमें भेद मानना आवश्यक है। यही भेदाभेद की दृष्टि ही अनेकान्त की आधार भूमि है, जिसे किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों को स्वीकार करना ही होता है। सांख्य दर्शन चाहे बुद्धि, अहंकार आदि को प्रकृति का विकार मानें, किन्तु संसारी पुरुष को उनसे असम्पृक्त नहीं कहा जा सकता है। योगसूत्र के साधनपाद के सूत्र 20 के भाष्य में कहा गया है -

''स पुरुषो बुद्धेः संवेदी सुबद्धेर्नस्वरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत्स्वरूपः कस्मात्। ज्ञाता-ज्ञात विषयत्वात्-अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः, कस्मात् शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति।''

अतः प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्त्व होकर भी उनमें पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया घटित होती है। उन दो तत्त्वों के बीच भेदाभेद यही बन्धन की व्याख्याओं का आधार है।

योगदर्शन में अनेकान्तवाद :

जैन दर्शन में द्रव्य और गुण या पर्याय, दूसरे शब्दों में धर्म और धर्मी में एकान्त भेद या एकान्त अभेद को स्वीकार नहीं करके उनमें भेदाभेद स्वीकार करता है और यही उसके अनेकान्तवाद का आधार है। यही दृष्टिकोण हमें **योगसूत्र भाष्य** में भी मिलता है-

''न धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वान ते लक्षिताश्व तान्तामवस्थां प्राप्नुवन्तो अन्यत्वेन प्रति निर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। यथैक रेखा शत स्थाने शतं दश स्थाने दशैक चैकस्थाने यथाचैकत्वेपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति।''

योगसूत्र विभूतिपाद 13 के भाष्य को में इसी तथ्य को इस प्रकार भी प्रकट किया गया है- **''यथा सुवर्ण भाजनस्य भित्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वम्''** इन दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक ही स्त्री भेद से माता, पुत्री अथवा सास कहलाती है उसी प्रकार एक ही द्रव्य अवस्थान्तर को प्राप्त होकर भी वही रहता है। एक स्वर्णपात्र को तोड़कर जब कोई अन्य वस्तु बनाई जाती है तो उसकी अवस्था बदलती है किन्तु स्वर्ण तो वही रहता है अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा वह वही रहता अर्थात् नहीं बदलता है, किन्तु अवस्था बदलती है। यही सत्ता का नित्यानित्यत्व या भेदाभेद है जो जैन दर्शन में अनेकान्तवाद का आधार है। इस भेदाभेद को आचार्य वाचस्पति मिश्र इसी स्थल की टीका में स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखते हैं-

''अनुभव एव ही धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदी व्यवस्थापयन्ति।''

मात्र इतना ही नहीं, वाचस्पति मिश्र तो स्पष्ट रूप से एकान्तवाद का निरसन करके अनेकान्तवाद की स्थापना करते हैं। वे लिखते हैं-

न ह्यैकान्तिके भेदे धर्मादीनां धर्मिणो, धर्मीरूपवद् धर्मादित्वं नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्ववद् धर्मादित्यं स चानुभवेने-कान्तिकत्वमवस्थापयन्नापि धर्मादिषूपजनापाय धर्मकिष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्माश्च परस्परतो व्यवर्तयन् प्रत्याममनु भूयत इति।

एकान्त का निषेध और अनेकान्त की पृष्टि का योग दर्शन में

इससे बड़ा कोई प्रमाण नहीं हो सकता है। योग दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही सत्ता को सामान्य विशेषात्मक मानता है। योगसूत्र के समाधिपाद का सूत्र 7 इसकी पुष्टि करता है–

इसी बात को किंचित् शब्द भेद के साथ विभूतिपाद के सूत्र 44 में भी कहा गया है–**सामान्यविशेषसमुदायोत्र द्रव्यम्।**

मात्र इतना ही नहीं, योगदर्शन में द्रव्य की नित्यता–अनित्यता को उसी रूप में स्वीकार किया गया है, जिस रूप में अनेकान्त दर्शन में। **महाभाष्य** के पंचमाह्निक में प्रतिपादित है–

द्रव्यनित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्ण कदाचिदाकृत्यायुक्तं पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते आकृतिरन्याचान्याभवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमृद्येन द्रव्यमेवावशिष्यते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य और योगदर्शन की पृष्टभूमि में कहीं न कहीं अनेकान्त दृष्टि अनुस्यूत है।

वैशेषिक दर्शन में अनेकान्त :

वैशेषिक दर्शन में जैन दर्शन के समान ही प्रारम्भ में तीन पदार्थों की कल्पना की गई है, वे द्रव्य, गुण और कर्म, जिन्हें हम जैन दर्शन के द्रव्य, गुण और पर्याय कह सकते हैं। यद्यपि वैशेषिक दर्शन भेदवादी दृष्टि से इन्हें एक दूसरे से स्वतंत्र मानता है फिर भी उसे इनमें आश्रय आश्रयी भाव तो स्वीकार करना ही पड़ा है। ज्ञातव्य है कि जहाँ आश्रय–आश्रयी भाव होता है, वहाँ उनके कथंचित् या सापेक्षिक सम्बन्ध तो मानना ही पड़ता है, उन्हें एक से दूसरे से स्वतंत्र कहें, फिर भी वे असम्बद्ध नहीं है। अनुभूति के स्तर पर द्रव्य से पृथक् गुण और द्रव्य एवं गुण से पृथक् कर्म नहीं होते हैं। यहाँ उनका भेदाभेद है, अनेकान्त है।

पुनः वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष नामक दो स्वतंत्र पदार्थ माने गए हैं। पुनः उनमें भी सामान्य के दो भेद किए- परसामान्य और अपरसामान्य। परसामान्य को ही सत्ता भी कहा गया है, वह शुद्ध अस्तित्व है, सामान्य है किन्तु जो अपर सामान्य है वह सामान्य विशेष रूप है। द्रव्य, गुण और कर्म अपरसामान्य है और अपरसामान्य होने से

सामान्य विशेष उभय रूप है। वैशेषिक सूत्र (1/2/5) में कहा गया है-

''द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च''

द्रव्य, गुण और कर्म को युगपद् सामान्य विशेष-उभय रूप मानना यही तो अनेकान्त है। द्रव्य किस प्रकार सामान्य विशेषात्मक है, इसे स्पष्टकरते हुए वैशेषिकसूत्र (9/2/3) में कहा गया है-

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्।

सामान्य और विशेष-दोनों ज्ञान, बुद्धि या विचार की अपेक्षा से है। इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार प्रशस्तपाद कहते हैं-

द्रव्यत्वं पृथ्वीत्वापेक्षया सामान्यं सत्तापेक्षया च विशेष इति।

द्रव्यत्व पृथ्वी नामक द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य है और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। दूसरे शब्दों में एक ही वस्तु अपेक्षा भेद से सामान्य और विशेष दोनों ही कही जा सकती है। अपेक्षा भेद से वस्तु में विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों को स्वीकार करना- यही तो अनेकान्त है। 'सामान्य विशेष दोनों को स्वीकार करना- यही तो अनेकान्त है। उपस्कार कर्ता ने तो स्पष्टतः कहा है **'सामान्यं विशेषसंज्ञामपि लभते'।** अर्थात् वस्तु केवल सामान्य अथवा केवल विशेष रूप में होकर सामान्य विशेष रूप है और इसी तथ्य में अनेकान्त की प्रस्थापना है।

पुनः वस्तु सत् असत् रूप है इस तथ्य को भी कणाद महर्षि ने अन्योन्याभाव के प्रसंग में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं-

सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत्-वैशेषिक सूत्र (९/१/४-५)

इसकी व्याख्या में उपस्कारकर्ता ने जैन दर्शन के समान ही कहा है-

यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवह्रियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते। भवति हि असन्नश्वो गवात्मना-असन् गौरश्वात्मना-असन् पटो घटात्मना इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वस्वरूप की अपेक्षा से अस्ति रूप है और स्वरूप की अपेक्षा नास्ति रूप है। वस्तु में स्व की सत्ता की स्वीकृति और पर की सत्ता का अभाव मानना यही तो अनेकान्त है जो वैशेषिकों को भी मान्य है। अस्तित्व नास्तित्व पूर्वक और नास्तित्व अस्तित्व पूर्वक ही होता है।

न्यायदर्शन में अनेकान्तवाद :

न्यायदर्शन में न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन ने न्यायसूत्र (1/141) के भाष्य में अनेकान्तवाद का आश्रय लिया है। वे लिखते हैं-

एतच्च विरुद्धयोरेक धर्मिस्थयोर्बोधव्यं, यत्र तु धर्मी सामान्यगतो विरुद्धौ धर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः हेतुतोर्थस्य तथाभावोपपतेः इत्यादि अर्थात् जब एक ही धर्मी में विरुद्ध अनेक धर्म विद्यमान हों तो विचार पूर्वक ही निर्णय लिया जाता है, किन्तु जहां धर्मी सामान्य में (अनेक) धर्मों की सत्ता प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो, वहां पर तो उसे समुच्चय रूप अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त ही मानना चाहिए। क्योंकि वहाँ पर तो वस्तु उसी रूप में सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि यदि दो धर्मों में आत्यन्तिक विरोध नहीं है और वे सामान्य रूप से एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से पाए जाते हैं तो उन्हें स्वीकार करने में न्याय दर्शन को आपत्ति नही है।

इसी प्रकार जाति और व्यक्ति में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद मानकर जाति को भी सामान्य-विशेषात्मक माना गया है। भाष्यकार वात्स्यायन न्यायसूत्र (2/2/66) की टीका में लिखते हैं-

यच्च केषांचिद् भेदं कुतश्चिद् भेदं करोति तत्सामान्यविशेषी जातिरिति।

यह सत्य है कि जाति सामान्य रूप भी है, किंतु जब यह पदार्थों में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद करती है तो वह जाति सामान्य-विशेषात्मक होती है। यहाँ जाति को जो सामान्य की वाचक है सामान्य विशेषात्मक मानकर अनेकांतवाद की पुष्टि की गई है। क्योंकि अनेकान्तवाद व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि का अन्तर्भाव मानता है। व्यक्ति के बिना जाति की और जाति के बिना व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है उनमें कथंचित भेद और कथंचित् अभेद है। सामान्य में विशेष और विषेष में सामान्य अपेक्षा भेद से निहित रहते हैं, यही तो अनेकान्त है।

सत्ता सत्-असत् रूप है यह बात भी न्याय दर्शन में कार्य-कारण की व्याख्या के प्रसंग में प्रकारान्तर से स्वीकृत है। पूर्व पक्ष के रूप में न्यायसूत्र (4/1/48) में यह कहा गया है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य को न तो सत् कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों में वैधर्म्य है-

नासन्न सन्नसदसत् सदसतोवैंधर्म्यात्।

इसका उत्तर टीका में विस्तार से दिया गया है, किन्तु हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में उनके उत्तरपक्ष में प्रस्तुत करेंगे। उनका कहना है कि कार्य-उत्पत्ति पूर्व कारण रूप से सत् है क्योंकि कारण के असत् होने से कोई उत्पत्ति ही नहीं होगी। पुनः कार्य रूप से वह असत् भी है क्योंकि यदि सत् होता है तो फिर उत्पत्ति का क्या अर्थ होता? अतः उत्पत्ति पूर्व कार्य कारण रूप से सत् और कार्य रूप से असत् अर्थात् सत-असत् उभय रूप है। यह बात बुद्धिसिद्ध है (विस्तृत विवेचना के लिए देखें **न्यायसूत्र** (4/1/48-50) की वैदिक परिप्रसाद स्वामी की टीका।

मीमांसा दर्शन में अनेकान्तवाद :

जिस प्रकार अनेकान्तवाद के सम्पोषक जैनधर्म में वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है, उसी प्रकार मीमांसा दर्शन में सत्ता को त्रयात्मक माना है। उसके अनुसार उत्पत्ति और विनाश तो धर्मों के हैं, धर्मी तो नित्य है, वह उन धर्मों की उत्पत्ति और विनाश के भी पूर्व है अर्थात् नित्य है। वस्तुतः जो बात जैन दर्शन में द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता की अपेक्षा से कही गई है, वही बात धर्मी और धर्म की अपेक्षा से मीमांसा दर्शन में कही गई है, वही बात धर्मी और धर्म की अपेक्षा से मीमांसा दर्शन में कही गई है यहां पर्याय के स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं कुमारिल भट्ट **मीमांसाश्लोकवार्तिक** (21-23) में लिखते हैं-

वर्द्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाभ्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम्॥
न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यथ्यम् तेन सामान्यनित्यता॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी की जो स्थापना जैन दर्शन में है वही बात शब्दान्तर से उत्पत्ति, विनाश और स्थिति के रूप में मीमांसा दर्शन में कही गई है। कुमारिल भट्ट के द्वारा

पदार्थ को उत्पत्ति, विनाश और स्थिति युक्त मानना, अवयवी और अवयव में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तथ्य इसी बात को पुष्ट करते हैं कि उनके दार्शनिक चिंतन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकान्त के तत्त्व उपस्थित रहे हैं।

श्लोकवार्तिक श्लोक 75-80 में तो वे स्वयं अनेकान्त की प्रमाणता सिद्ध करते हैं-

वस्त्वनेकत्ववादाच्च न सन्दिग्धा प्रमाणता।
ज्ञानं संहिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता॥
इहानैकान्तिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम्।

इसी अंश की टीका में पार्थसारथी मिश्र ने भी स्पष्टत: अनेकान्तवाद शब्द का प्रयोग किया है यथा- **ये चैकान्तिकं भेदमभेदं वावयविनः समाश्रयन्ते तैरेवायमनेकांतवाद।**

मात्र इतना ही नहीं, उसमें वस्तु को स्व-स्वरूप की अपेक्षा सत् पर स्वरूप की अपेक्षा असत् और उभयरूप से सदसत् रूप माना गया है यथा- **सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं यथा घटो घटरूपेण सत् पटरूपेणासत्।** - अभावप्रकरण टीका

यहाँ तो हमने कुछ ही संदर्भ प्रस्तुत किए हैं यदि भारतीय दर्शनों के मूलग्रंथों और उनकी टीकाओं का सम्यक् परिशीलन किया जाए तो ऐसे अनेक तथ्य परिलक्षित होंगे जो उन दर्शनों की पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकान्त दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। अनेकान्त एक अनुभूत्यात्मक सत्य है उसे नकारा नहीं जा सकता है। अन्तर मात्र उसके प्रस्तुतिकरण की शैली का होता है।

वेदान्तदर्शन में अनेकान्तवाद :

भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन वस्तुत: एक दर्शन का नहीं, अपितु दर्शन समूह का वाचक है। ब्रह्मसूत्र को केन्द्र में रखकर जिन दर्शनों का विकास हुआ वे सभी इस वर्ग में समाहित किए जाते हैं। इसके अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। **नैकस्मिन्न संभवात् (ब्रह्मसूत्र २/२/३३)** की व्याख्या करते हुए इन सभी दार्शनिकों ने जैनदर्शन के अनेकान्तवाद की समीक्षा की है। मैं यहाँ उनकी समीक्षा

कितनी उचित है या अनुचित है इस चर्चा में नहीं जाना चाहता हूँ, क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने कमोवेश रूप में शंकर का ही अनुसरण किया है। यहाँ मेरा प्रयोजन मात्र यह दिखाना है कि वे अपने मन्तव्यों की पुष्टि में किस प्रकार अनेकान्तवाद का सहारा लेते हैं।

आचार्य शंकर सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रसंग में स्वयं ही प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति रूप दो परस्पर विरोधी गुण स्वीकार रहे हैं। **(ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य २/२/४)** में वे स्वयं ही लिखते हैं-

ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्, सर्वशक्तिमत्वात् महामायत्वाच्च प्रवृत्यप्रवृत्ती न विरुध्यते।

पुनः माया को न ब्रह्म से पृथक् कहा जा सकता है और न अपृथक्, क्योंकि पृथक् मानने पर अद्वैत खण्डित होता है और अपृथक् मानने पर ब्रह्म माया के कारण विकारी सिद्ध होता है। पुनः माया को न सत् कह सकते हैं और न असत्। यदि माया असत् है तो सृष्टि कैसे होगी और यदि माया सत् है तो मुक्ति कैसे होगी? वस्तुतः माया न सत् है और न असत्, वह न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न। यहाँ अनेकान्तवाद जिस बात को विधि मुख से कह रहा है, शंकर उसे ही निषेधमुख से कह रहे हैं। अद्वैतवाद की कठिनाई यही है वह माया की स्वीकृति के बिना जगत् की व्याख्या नहीं कर सकता है और माया को सर्वथा असत् या सर्वथा सत् अथवा ब्रह्म से सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वह परमार्थ के स्तर पर असत् और व्यवहार के स्तर पर सत् है। यही तो उनके दर्शन की पृष्ठभूमि में अनेकान्त का दर्शन होता है। शंकर इन्हीं कठिनाईयों से बचने हेतु माया को जब अनिर्वचनीय कहते हैं, तो वे किसी न किसी रूप में अनेकान्तवाद को ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

आचार्य शंकर के अतिरिक्त भी **ब्रह्मसूत्र** पर टीका लिखने वाले अनेक आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं में अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार किया है। महामति भास्कराचार्य ब्रह्मसूत्र के 'तत्तु समन्वयात्((1/1/5) सूत्र की टीका में लिखते हैं-

यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते अनिरूति

प्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्। अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेतिस्थितम्।
संग्रह श्लोक -

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाभेद कुण्डलाद्यात्मनाभिदा।। (पृ. १६-१७)

यद्यपि यह कहा जाता है कि भेद-अभेद में विरोध नहीं, किन्तु यह बात वही व्यक्ति कह सकता है जो प्रमाण तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ है।

इस कथन के पश्चात् अनेक तर्कों से भेदाभेद का समर्थन करते हुए अन्त में कह देते हैं कि अतः ब्रह्म भिन्नाभिन्न रूप से स्थित है यह सिद्ध हो गया। कारण रूप में वह अभेद रूप है और कार्य रूप में वह नाना रूप है, जैसे स्वर्ण कारण रूप में ही एक है, किन्तु कुण्डल आदि कार्यरूप में अनेक।

यह कथन भास्कराचार्य को प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद का सम्पोषक ही सिद्ध करता है। अन्यत्र भी भेदाभेद रूपं ब्रह्मेति समधिगतं (2/1/22 टीका पृ. 164) कहकर उन्होंने अनेकान्तदृष्टि का ही पोषण किया है।

भास्कराचार्य के समान यतिप्रवर विज्ञानभिक्षु ने ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृत भाष्य लिखा है। उसमें वे अपने भेदाभेदवाद का न केवल पोषण करते हैं, अपितु अपने मत की पुष्टि में कर्मपुराण, नारदपुराण, स्कन्दपुराण आदि से संदर्भ भी प्रस्तुत करते हैं यथा-

त एते भवद्रूपं विश्वं सदसदात्कम्। पृ. १११
चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्योमादि सकलं जगत्।
असत्यं सत्यरूपं तु कुम्भकुण्डाद्यपेक्षया।। पृ.६३

ये सभी सन्दर्भ अनेकान्त के सम्पोषक हैं यह तो स्वतःसिद्ध है।

इसी प्रकार निम्बार्काचार्य ने भी अपनी **ब्रह्मसूत्र** की **वेदान्त पारिजात सौरभ** नामक टीका में तत्तु समन्वयात् (1/1/4) की टीका करते हुए प. 2 पर लिखा है-

सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा विषय इति।

शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक आचार्य वल्लभ भी ब्रह्मसूत्र के श्रीभाष्य (पृ.115) में लिखते हैं -

सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि च।
अनिन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थ चलमेव च।
विरुद्धं सर्वधर्माणां आश्रयं युक्त्यगोचरम्।

अर्थात् वह अनन्तमूर्ति ब्रह्म कूटस्थ भी है और चल (परिवर्तनशील) भी है, उसमें सभी वादों के लिए अवसर (स्थान) है, वह अनेक वादों का अनुरोधी है, सभी विरोधी धर्मों का आश्रय है और युक्ति से अगोचर है।

यहाँ राजानुजाचार्य तो बाज ब्रह्म के सम्बन्ध में कह रहे हैं, प्रकारान्तर से अनेकान्तवादी जैनदर्शन तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल वेदान्त में भी अपितु ब्राह्मण परम्परा में मान्य छहों दर्शनों के दार्शनिक चिन्तन में जो कालक्रम में विकसित हैं अनेकान्तवादी दृष्टि अनुस्यूत है।

श्रमण परम्परा का दार्शनिक चिंतन और अनेकान्त :

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में श्रमण परम्परा के दर्शन न केवल प्राचीन हैं, अपितु वैचारिक उदारता अर्थात् अनेकान्त के सम्पोषक भी रहे हैं। वस्तुतः भारतीय श्रमण परम्परा का अस्तित्त्व औपनिषदिक काल से भी प्राचीन है, उपनिषदों में श्रमणधारा और वैदिकधारा का समन्वय देखा जा सकता है। उपनिषदों के काल में दार्शनिक चिन्तन की विविध धाराएं बीज रूप में अस्तित्व में आ गई थीं, अतः उस युग के चिन्तकों के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि इनके एकांगी दृष्टिकोणों का निराकरण कर इनमें समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जाए। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष तीन विचारक आते हैं- संजय वेलट्ठीपुत्त, गौतमबुद्ध और वर्द्धमान महावीर।

संजय वेलट्ठीपुत्त और अनेकान्त :

संजय वेलट्ठीपुत्त बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों में एक थे। उन्हें अनेकान्तवाद का सम्पोषक इस अर्थ में माना जा सकता है कि वे एकान्तवादों का निरसन करते थे। उनके मन्तव्य का निर्देश बौद्धग्रंथों में इस रूप में पाया जाता है-

(1) है? नहीं कहा जा सकता।

(2) नहीं है? नहीं कहा जा सकता।
(3) है भी और नहीं भी? नहीं कहा जा सकता।
(4) न है और न नहीं है? नहीं कहा जा सकता।

इस सन्दर्भ से यह फलित है कि वे किसी भी एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं थे। एकान्त का निरसन अनेकान्तवाद का प्रथम आधार बिन्दु है और इस अर्थ में उन्हें अनेकान्तवाद के प्रथम चरण का सम्पोषक माना जा सकता है। यही कारण रहा होगा कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विचारकों ने यह अनुमान किया कि संजय वेलट्ठीपुत्त के दर्शन के आधार पर जैनों ने स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) का विकास किया। किन्तु मेरी दृष्टि में उनका यह प्रस्तुतीकरण वस्तुतः उपनिषदों के सत्, असत्, उभय (सत्-असत्) और अनुभय का ही निषेध रूप से प्रस्तुतीकरण है इसमें एकान्त का निरसन तो है, किन्तु अनेकान्त स्थापना नहीं है संजय वेलट्ठीपुत्त की यह चतुभंगी किसी रूप में बुद्ध के एकान्तवाद के निरसन की पूर्वपीठिका है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में अनेकान्तवाद का आधार विभज्यवाद :

भगवान् बुद्ध का मुख्य लक्ष्य अपने युग के ऐकान्तिक दृष्टिकोणों का निरसन करना था, अतः उन्होंने विभज्यवाद को अपनाया। विभज्यवाद प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद का ही पूर्व रूप है। बुद्ध और महावीर दोनों ही विभज्यवादी थे। **सूत्रकृतांग** (1/1/4/22) में भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करें। **(विभज्जवायं वागरेज्जा)** अर्थात् किसी भी प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर नहीं दे। बुद्ध स्वयं अपने को विभज्यवादी कहते थे। विभज्यवाद का तात्पर्य है प्रश्न का विश्लेषणपूर्वक सापेक्ष उत्तर देना। **अंगुत्तरनिकाय** में किसी प्रश्न का उत्तर देने की चार शैलियाँ वर्णित हैं- (1) एकांशवाद अर्थात् सापेक्षिक उत्तर देना, (2) विभज्यवाद अर्थात् प्रश्न का विश्लेषण करके सापेक्षिक उत्तर देना, (3) प्रतिप्रश्न पूर्वक उत्तर देना और (4) मौन रह जाना (स्थापनीय) अर्थात् जब उत्तर देने में एकान्त का आश्रय लेना पड़े वहां मौन रह जाना। हम देखते हैं कि एकान्त से बचने के लिए बुद्ध ने या तो मौन का सहारा लिया या फिर विभज्यवाद को अपनाया। उनका

मुख्य लक्ष्य यही रहा कि परम तत्व का सत्ता के संबन्ध में शाश्वतवाद, उच्छेदवाद जैसी परस्पर विरोधी विचारधाराओं में से किसी को स्वीकार नहीं करना। त्रिपिटक में ऐसे अनेक संदर्भ हैं, जहां भगवान बुद्ध ने एकान्तवाद का निरसन किया है। जब उनसे पूछा गया क्या आत्मा और शरीर अभिन्न है? वे कहते हैं कि मैं ऐसा कहता, फिर जब यह पूछा गया क्या आत्मा और शरीर भिन्नाभिन्न है, उन्होंने कहा मैं ऐसा भी नही कहता हूँ। पुनः जब यह पूछा गया कि आत्मा और शरीर अभिन्न है तो उन्होंने कहा कि मैं ऐसा भी नहीं कहता हूँ। जब उनसे यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? तो उन्होंने अनेकान्त शैली में कहा कि यदि गृहस्थ और अत्यागी मिथ्यावादी हैं तो वे आराधक नहीं हो सकते हैं (**मज्झिमनिकाय** 19) इसी प्रकार जब महावीर से जयंती ने पूछा, भगवान् सोना अच्छा है या जागना? तो उन्होंने कहा कुछ का सोना अच्छा है और कुछ का जागना। पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्मा का जागना। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारंभिक बौद्धधर्म एवं जैनधर्म में एकान्तवाद का निरसन और विभज्यवाद के रूप में अनेकान्तदृष्टि का समर्थन देखा जाता है।

स्याद्वाद और शून्यवाद :

यदि बुद्ध और महावीर के दृष्टिकोण में कोई अंतर देखा जाता है तो वह यही कि बुद्ध ने एकान्तवाद के निरसन पर अधिक बल दिया। उन्होंने या तो मौन रहकर या फिर विभज्यवाद की शैली को अपनाकर एकान्तवाद से बचने का प्रयास किया। बुद्ध की शैली प्रायः एकान्तवाद के निरसन या निषेधपरक रही, परिणामतः उनके दर्शन का विकास शून्यवाद में हुआ, जबकि महावीर की शैली विधानपरक रही। अतः उनके दर्शन का विकास अनेकान्त या स्याद्वाद में हुआ।

इसी बात को प्रकारान्तर से माध्यमिक कारिका (2/3) में इस प्रकार भी कहा गया है -

न सद् नासद् न सदासत् न चानुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदु।

अर्थात् परमतत्त्व न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् है और न

सत्-असत् दोनों नहीं है।

यही बात प्रकारान्तर से विधिमुख शैली में जैनाचार्यों ने भी कही है-**यदेवतत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं सदेवसत् तदेवासत्, यदेवनित्यं तदेवानित्यम्।** अर्थात् जो तत् रूप है, वही अतत् रूप भी है, जो एक है, वही अनेक भी है, जो सत् है वही असत् भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है। उपरोक्त प्रतिपादनों में निषेधमुख शैली और विधिमुख शैली का अंतर अवश्य है, किन्तु तात्पर्य में इतना अंतर नहीं है जितना समझा जाता है। एकान्तवाद का निरसन दोनों का उद्देश्य है।

शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद निषेधात्मक और विधानात्मक शैली का है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही दिखते हैं। किन्तु जहाँ शून्यवादी उस एकान्त के दोष के भय से उसे अस्वीकार कर देता है,वहां अनेकान्तवादी उसके आगे स्यात् शब्द रखकर उस दूषित एकान्त को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करता है।

शून्यवाद तत्त्व को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य कहता है तो स्याद्वाद उसे अनन्तधर्मात्मक कहता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि शून्य और अनन्त का गणित एक ही जैसा है। शून्यवाद जिन्हें परमार्थसत्य और लोकसंवृतिसत्य कहता है उसे जैनदर्शन निश्चय और व्यवहार कहता है तात्पर्य यह है कि अनेकान्तवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ समरूपता है।

उपसंहार :

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि समग्र भारतीय दार्शनिक चिंतन की पृष्ठभूमि में अनैकान्तिक दृष्टि रही हुई है चाहे उन्होंने अनेकान्त के सिद्धान्त को उसके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में ग्रहण न कर उसकी खुलकर समालोचना की हो। वस्तुतः अनेकान्त एक सिद्धान्त नहीं, एक पद्धति (Methodology) है और फिर चाहे कोई भी दर्शन हो 'बहुआयामी परमतत्त्व' की अभिव्यक्ति के लिए उसे इस पद्धति को स्वीकार करना ही होता है। चाहे हम सत्ता को निरपेक्ष मानें या यह भी मान लें कि उस निरपेक्ष तत्त्व की अनुभूमि तो सम्भव है, किन्तु निरपेक्ष अभिव्यक्ति तो सम्भव नहीं है। निरपेक्ष अनुभूति की अभिव्यक्ति का जब भी भाषा के

माध्यम से कोई प्रयत्न किया जाता है, वह सीमित और सापेक्ष बनकर रह जाती है। अनन्तधर्मात्मक परमतत्त्व की अभिव्यक्ति का जो भी प्रयत्न होगा, वह तो सीमित और सापेक्ष ही होगा। एक सामान्य वस्तु का चित्र भी जब बिना किसी कोण के लेना संभव नहीं है तो फिर उस अनन्त और अनिर्वचनीय के निर्वचन का या दार्शनिक अभिव्यक्ति का प्रयत्न अनेकान्त की पद्धति को अपनाए बिना कैसे संभव होगा? यही कारण है कि चाहे कोई दर्शन हो, उसकी प्रस्थापना के प्रयत्न में अनेकान्त की भूमिका अवश्य निहित है और यही कारण है कि संपूर्ण भारतीय दार्शनिक चिंतन की पृष्ठभूमि में अनेकान्त का दर्शन छिपा हुआ है।

सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में अनेकान्त को स्वीकृति देते हैं इस तथ्य का निर्देश उपाध्याय यशोविजय जी ने अध्यात्मोपनिषद् (1/45-49) में किया है, हम प्रस्तुत आलेख का उपसंहार उन्हीं के शब्दों में करेंगे -

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्।
योगो वैशेषिको वापि नानेकातं प्रतिक्षिपेत्।।
विज्ञानस्य मैकाकारं नानाकारं करंबितम्।
इच्छस्तथागतः प्राज्ञो नानेकातं प्रतिक्षिपेत्।।
जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचितम्।
भाट्टो वा पुरारिर्वा नानेकातं प्रतिक्षिपेत्।
अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः।
ब्रुवाणो भिन्ना-भिन्नार्थान् नवभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकम्।।

- प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

सराग एवं वीतराग सम्यग्दर्शन : एक चिन्तन

-डॉ. आलोक कुमार जैन

भारत देश सदैव ही विश्वगुरु के रूप में सर्वमान्य है। इसमें अनेकों धर्म एवं सम्प्रदाय विद्यमान हैं। उन सबके सिद्धान्त, आचार-विचार एवं व्यवहार स्वतन्त्र रूप से भिन्न प्रतीत होते हुए भी देश में एकता अनेकों शताब्दियों से विद्यमान है। उनमें जैनदर्शन के अलावा सभी दर्शन आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। जैनदर्शनानुसार सभी भव्य जीव रत्नत्रय को आधार बनाकर सिद्धत्व की प्राप्ति कर सकते हैं। उसकी प्राप्ति में रत्नत्रय की प्रमुखता है। उसमें भी सम्यग्दर्शन को आचार्यों ने आधार स्वरूप प्रथम सीढी स्वीकार किया है। इसको वृक्ष के बीज स्वरूप भी स्वीकार किया है। वह सम्यग्दर्शन देव-शास्त्र-गुरु पर सच्ची श्रद्धा अथवा तीर्थङ्करों एवं आचार्यों ने जिन तत्त्वों का स्वरूप प्ररूपित किया है उन तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान को समझने वाले सम्यग्दृष्टि जीव इस लोक में विरले ही होते हैं।

वह सम्यग्दर्शन दो शब्दों के मेल से बना है सम्यक् और दर्शन। सम्यक् शब्द का अर्थ समीचीन, सच्चा, वास्तविक है। दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा, स्पर्शन ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। आप्त या आत्मा में आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं।[1] श्रद्धा को ही विषय करके दर्शन का अर्थ बताते हुए प्रवचनसार के टीकाकार आचार्य लिखते हैं कि तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणरूप दर्शन से शुद्ध हुआ दर्शनशुद्ध कहलाता है। दर्शन शब्द से निजशुद्धात्म श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये।[2] सम्यग्दर्शन के स्वरूप को व्यक्त करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने जीवादि नव पदार्थों को ही सम्यक्त्व कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी इसके स्वरूप को अन्य प्रकार से परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि-

हिंसा रहिए धम्मे, अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।[3]

इसमें आचार्य का आशय है कि हिंसा से रहित धर्म में, अट्ठारह दोषों से रहित देव अर्थात् आप्त में, निर्ग्रन्थ श्रमण के प्रवचन (समीचीन शास्त्र) में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इसी गाथा को आचार्य देवसेन स्वामी ने भी भावसंग्रह में ग्रहण किया है। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य देवसेन स्वामी पर आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का गहरा प्रभाव था। इस गाथा का एक-एक शब्द पूर्णरूप से मोक्षपाहुड की गाथा से मेल करता है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए आचार्य वट्टकेर स्वामी लिखते हैं कि जो जिनेन्द्र देव ने कहा है वही वास्तविक है, इस प्रकार से जो भाव से ग्रहण करना है वह सम्यग्दर्शन है।[4] सबसे प्रचलित परिभाषा को व्यक्त करते हुए आचार्य उमास्वामी लिखते हैं कि सात तत्त्वों के अर्थ का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।[5]

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की ही परिभाषा का आधार लेते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि परमार्थभूत देव, शास्त्र और गुरु का तीन मूढताओं से रहित, आठ अंगों से सहित और आठ प्रकार के मदों से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।[6] इसी प्रसंग में आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थ इनका जिनेन्द्रदेव ने जिस प्रकार से वर्णन किया है उसी प्रकार से उनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।[7] इन सब परिभाषाओं को और भी अधिक परिष्कृत करके आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सात तत्त्वों का शंकादि पच्चीस दोषों से रहित जो अति निर्मल श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन कहलाता है।[8]

सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रकट करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि जीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान करना है वह सम्यग्दर्शन है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है।[9] इसी प्रकार से सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि सूत्र (जिनेन्द्र देव के वचन) में कही गई युक्ति के द्वारा जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना जिनेन्द्र भगवान् ने सम्यग्दर्शन कहा है।[10] भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये प्रवचन का नियम से श्रद्धान करता है तथा स्वयं जो विषय नहीं जानता है वह विषय गुरु की सहायता से जानकर उस पर श्रद्धान करता है वही सम्यग्दर्शन है।[11] ये सभी परिभाषायें भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रसंगों को दृष्टि में रखकर रची गई हैं। यही कारण है कि इनमें शाब्दिक

असमानता प्रायः झलकती है, परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा समानता होने से इसमें मतभेद का अभाव ही परिलक्षित होता है। सभी आचार्यों का अभिप्राय जीव को जिनशासन का श्रद्धानी बनाकर मोक्ष की दिशा में प्रेरित करने का ही है। जो विषय वह सही प्रकार से नहीं जानता है तो भी उसको वह आचार्य या अरिहन्त देव द्वारा कहा गया मानकर उस पर सच्ची श्रद्धा रखता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि रहता है, परन्तु यदि कोई उसको समीचीन सूत्र आदि के द्वारा समझाता है और नहीं स्वीकार करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।[12] आचार्य शुभचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि जो सराग सम्यग्दृष्टि है उसके तो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य होते हैं और वीतराग सम्यग्दृष्टि की समस्त प्रकार से आत्मा की शुद्धिमात्र है।[13]

सराग सम्यक्त्व एवं वीतराग सम्यक्त्व :

सभी आचार्यों ने अलग-अलग अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के अलग-अलग भेद किए हैं जिनमें दो भेद रूप में सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व को भी स्वीकार किया है। सर्वप्रथम आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि **तद्द्विविधं सरागवीतरागविषयभेदात्। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्**। अर्थात् वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षण वाला सराग सम्यग्दर्शन है और आत्मा की विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन कहलाता है।[14] भगवती आराधनाकार आचार्य शिवार्य दोनों का स्वरूप व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि- प्रशस्तराग सहित जीवों का सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व है और प्रशस्त एवं अप्रशस्त दोनों प्रकार के राग से रहित क्षीणमोह वीतरागियों का सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व कहा गया है।[15] आचार्य अमितगति अन्य आचार्यों से भिन्नता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं-

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा।
विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरद्वयम्।।65।।
संवेगप्रशमास्तिक्यकारुण्यव्यक्तलक्षणं।
सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम्।।66।।

अर्थात् सम्यक्त्व दो प्रकार का है जो वीतराग और सराग भेद वाला कहा गया है। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व

हैं और क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व है।[16] आचार्य ब्रह्मदेव सूरि सराग सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व एवं वीतराग सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व में समानता स्वीकारते हुए कहते हैं कि- **शुद्धजीवादितत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं विज्ञेयम्। वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यमिति**।[17] अर्थात् शुद्ध जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान रूप लक्षण है जिसका उसे सराग सम्यक्त्व अथवा व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिये और वीतराग चारित्र के बिना नहीं होने वाला वीतराग सम्यक्त्व अथवा निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिए। इसी प्रसंग को परमात्म प्रकाश ग्रन्थ के टीकाकार निरूपित करते हुए कहते हैं कि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति सराग सम्यक्त्व का लक्षण है, वह ही व्यवहार सम्यक्त्व है और निज शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाला और वीतराग चारित्र का अविनाभावी है वही वीतराग सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है।[18]

सम्यग्दृष्टि जीव अन्य मनुष्यों से कुछ विशेषताओं को धारण किये हुए होते हैं जिनको ज्ञानीजन गुण की उपमा देते हैं। सराग सम्यक्त्व के स्वरूप को बताते हुए प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणों को प्रत्येक आचार्य ने अवश्य ही स्वीकार किया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जहाँ ये चारों गुण विद्यमान होंगे वहाँ उस जीव में सम्यग्दर्शन तो पाया ही जायेगा। इन चारों गुणों के मानने में किसी भी आचार्य में कोई भी मतभेद नहीं है। इन्हीं चारों का स्वरूप संक्षेप से आचार्य लिखते हैं-

प्रशम- पञ्चेन्द्रियों के विषयों में और अत्यधिक तीव्रभाव रूप क्रोधादिक कषायों में स्वरूप से शिथिल मन का होना ही प्रशम भाव कहलाता है। अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवों पर कभी भी उनके वधादि रूप विकार के लिये बुद्धि का नहीं होना प्रशम भाव कहलाता है। प्रशम भाव की उत्पत्ति में निश्चय से अनन्तानुबन्धी कषायों का उदयाभाव और अप्रत्याख्यानादि कषायों का मन्द उदय कारण है।[19] सम्यग्दर्शन का अविनाभावी प्रशम भाव सम्यग्दृष्टि का परम गुण है। जो प्रशम भाव का झूठा अहंकार करते रहते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रशमाभास होता है।

संवेग- संसार के दु:खों से भयभीत होना तथा धर्म में अनुराग होना संवेग कहलाता है।[20] इसी परिभाषा का और परिष्कार करके आचार्य ब्रह्मदेवसूरि लिखते हैं कि धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है, वह संवेग कहलाता है।[21] धवलाकार कहते हैं कि हर्ष और सात्त्विक भाव का नाम संवेग है। लब्धि में संवेग की सम्पन्नता का अर्थ सम्प्राप्ति है।[22] पं. राजमल जी अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि- धर्म में और धर्म के फल में आत्मा का जो परम उत्साह होता है वह संवेग कहलाता है, अथवा धार्मिक पुरुषों में अनुराग अथवा पञ्चपरमेष्ठी में प्रीति रखने को संवेग कहते हैं।[23]

यह संवेग तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध कराने वाली 16 भावनाओं में से भी एक है। आचार्य कहते हैं कि- दर्शन विशुद्धि के साथ यदि एक संवेग भाव ही रहे तो उससे भी तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो जाता है।

अनुकम्पा- अनुकम्पा दया का ही दूसरा नाम है। कोई भी धर्महीन अथवा दु:खित व्यक्ति की समस्या का उचित तरीके से समाधान अथवा सहायता करना ही अनुकम्पा है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अनुकम्पा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि- प्यासे को या भूखे को या दु:खित किसी भी प्राणी को देखकर जो स्पष्टत: दु:खित मन होकर दया परिणाम के द्वारा उनकी सेवादि को स्वीकार करता है, उस पुरुष के प्रत्यक्षीभूत शुभोपयोगरूप यह दया अथवा अनुकम्पा कहलाती है।[24] अनुकम्पा के स्वरूप को और अधिक गहराई से व्यक्त करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि अनुग्रह से दयार्द्र चित्त वाले के दूसरे की पीड़ा को अपनी ही मानने का जो भाव होता है, उसे अनुकम्पा कहते हैं।[25] पं. राजमल्ल जी ने सभी संसार के प्राणियों पर अनुग्रह, मैत्रीभाव, माध्यस्थ भाव और शल्यरहित वृत्ति को अनुकम्पा माना है।[26]

आचार्यों का अनुकम्पा के अर्थ से तात्पर्य समझ में यह आता है कि किसी भी प्रकार से की गई कृपा अथवा दया अनुकम्पा है जो उस प्रकार के दु:ख से दु:खित है। आचार्यों ने तो माध्यस्थभाव को भी अनुकम्पा में ग्रहण कर लिया है। सभी आचार्य अनुकम्पा को एक अपेक्षा से वात्सल्य का ही एक रूप कहना चाहते हैं। जिस प्रकार वात्सल्य में किसी भी प्रकार की स्वार्थबुद्धि से विलग होकर बस कृपापात्र प्राणी पर दया करता ही है उसी को ही आचार्य अनुकम्पा स्वीकार कर रहे हैं। भगवती आराधना में

आचार्य महाराज ने तो अनुकम्पा के तीन भेद किये हैं जो इस प्रकार हैं- धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा और सर्वानुकम्पा।[27] अब इन तीनों के स्वरूप को संक्षेप से आचार्य व्यक्त करते हैं-

१. धर्मानुकम्पा- जिनके असंयम का त्याग है, मान-अपमान आदि अवस्थाओं में समान हैं, जो वैराग्य से युक्त होते हैं, क्षमादि दसों धर्मों में तत्पर रहते हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ संयमी मुनियों के ऊपर दया करना धर्मानुकम्पा कहलाती है। यह अन्त:करण में जब उत्पन्न होती है तब विवेकी गृहस्थजन यति-मुनियों को आहारादि दान देता है, उनके ऊपर आये हुए उपसर्ग, परीषहों को बिना शक्ति छिपाये दूर करता है और उनका संयोग पाकर अपने आप को धन्य मानता है और उनके मार्ग का अनुकरण करने का पूर्ण प्रयास करता है वही धर्मानुकम्पा कहलाती है।

२. मिश्रानुकम्पा- जो हिंसादिक पापों से विरत होकर अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रतों का अच्छी प्रकार से पालन करता है, पापों में भीरुता, संतोष और वैराग्य में तत्पर रहकर सामायिक-उपवासादि को करते हुए वैराग्य मार्ग में आगे बढ़ने के प्रयास में सदैव तत्पर रहते हैं ऐसे संयतासंयत अर्थात् श्रावकों पर जो दया की जाती है उसको मिश्रानुकम्पा कहते हैं। जो जीवों पर दया करते हैं परन्तु दया का पूर्ण स्वरूप नहीं जानते हैं, जो जिनसूत्रों को नहीं जानते, अन्य पाखण्डी गुरु की उपासना करते हैं, पञ्चाग्नि आदि तप तपते हैं, ऐसे जीवों के ऊपर कृपा करना भी मिश्रानुकम्पा है। गृहस्थ धर्म और अन्य धर्म, दोनों के ऊपर दया करने को मिश्रानुकम्पा कहते हैं।

३. सर्वानुकम्पा- सम्यग्दृष्टिजन और मिथ्यादृष्टिजन दोनों भी स्वभाव से मृदुता को धारण करते हुए जो संसार के समस्त प्राणियों के ऊपर दया करते हैं तो उसको सर्वानुकम्पा कहते हैं। क्षत-विक्षत, जख्मी, अपराधी, निरपराधी और एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों का परस्पर में घात-विघात करने से जो दृश्य देखकर दया उत्पन्न होती है उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं।

आस्तिक्य- सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर समीचीन रूप से श्रद्धा करना ही आस्तित्य है। आचार्य इसका स्वरूप व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि सर्वज्ञ वीतरागी आप्त देव के द्वारा कहे गये जीवादिक तत्त्वों में रुचि होने को आस्तिक्य कहते हैं।[28] पञ्चाध्यायी के प्रणेता पं. जी भी अपना आशय व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि- नव पदार्थों के सद्भाव में, धर्म में, धर्म के हेतु में और धर्म के फल में निश्चय रखना ही आस्तिक्य गुण कहलाता

है।[29] पं. टोडरमल जी गोम्मटसार की टीका में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि- जो सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञदेव में, व्रतों में, शास्त्रों में, तत्त्वों में 'ये ऐसे ही हैं' ऐसे अस्तित्व भाव से युक्त चित्त हो तो उसे आस्तिक्य भाव से युक्त कहा जाता है।[30]

इस प्रकार ये चार गुण सम्यग्दृष्टि जीव में नियम से पाये ही जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के अन्तस् में ये गुण स्वयमेव ही उत्पन्न हो जाते हैं।

सराग और वीतराग सम्यग्दृष्टि की विशेषता बताते हुए आचार्य कहते हैं कि- **सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुञ्चति। निश्चयचारित्राविनाभावि वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुञ्चति**।[31] अर्थात् सरागसम्यग्दृष्टि मात्र अशुभ कर्मों के कर्त्तापने को छोड़ता है शुभकर्म के कर्त्तापने को नहीं, जबकि निश्चय चारित्र के अविनाभूत वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर वह जीव शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों के कर्त्तापने को छोड़ देता है।

तत्त्वार्थों के श्रद्धान रूप लक्षण दोनों में घटित होने की अपेक्षा से दोनों में एकत्व भी सम्भव है ऐसा आचार्य कहते हैं। इन दोनों को पृथक् मानना भी एक बड़ी भूल ही होगी ऐसा मानते हुए जीव सम्यग्दर्शन से च्युत हो सकता है। दोनों में गुणस्थानों की अपेक्षा विशेषता निरूपित करते हुए सराग सम्यग्दृष्टि को आचार्यों ने दो प्रकार से निरूपित किया है। चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक स्थूल सम्यग्दृष्टि हैं, क्योंकि उनकी पहिचान कायादि के व्यापार से हो जाती है और सातवें से दशवें गुणस्थान तक सूक्ष्म सराग सम्यग्दृष्टि हैं, क्योंकि उनकी पहिचान कायादि के व्यापार अथवा प्रशम आदि गुणों से नहीं होती है। वीतराग सम्यग्दृष्टि ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। सम्पूर्ण मोह का अभाव हो जाने से वे वास्तविक वीतराग सम्यग्दृष्टि अथवा वीतराग चारित्र के धारी कहलाते हैं। जब तक सम्यग्दृष्टि के स्वाध्याय, सामायिकादि की क्रियाओं में राग परिणति रहेगी तब तक उसके प्रशस्त राग होने के कारण सराग सम्यक्त्व की संज्ञा प्रदान की गई है। जहाँ किञ्चित् मात्र भी राग का अंश है वह सराग ही तो कहलायेगा। जहाँ राग के समस्त निमित्तों का त्याग करके मात्र शुद्धात्मतत्त्व के स्वरूप चिन्तन में ही जो रत रहेगा वह वीतराग सम्यक्त्व सहित कहलायेगा, क्योंकि राग प्रशस्त हो या अप्रशस्त, राग तो राग है।

इसीलिए 10वें गुणस्थान तक के जीव को सराग सम्यक्त्वी और उससे ऊपर के गुणस्थानों में वीतराग सम्यक्त्वी कहा गया है।

ऐसी अनेकों विशेषताओं को लिए हुए इन दोनों सम्यग्दर्शनों को प्राप्त करने का प्रयत्न सदैव करते रहना चाहिए। इनमें से प्रथम सराग सम्यक्त्व को प्राप्त करके वीतराग सम्यक्त्व की भावना करते रहना चाहिए। वीतराग सम्यक्त्व कार्य है तो सराग सम्यक्त्व कारण है। निश्चय से सम्यक्त्व की प्राप्ति करने का प्रयत्न निरन्तर करते हुए समाधि पूर्वक मरण करके अपने जीवन को सफल बनाने के मार्ग में लग जाना चाहिए। मोक्षप्राप्ति का प्रथम द्वार सम्यक्त्व ही है। अतः स्वाध्याय करते हुए व्यावहारिक जीवन में आचार्यों के उपदेश लागू करने का प्रयत्न करेंगे तो निश्चय ही हमको सम्यक्त्व की प्राप्ति संभव है।

संदर्भ :

[1] ध. 6/1, 9,1,21/138

[2] प्र. सा. ता. वश. 240/333/15

[3] मोक्षपाहुड गा. 90, भावसंग्रह गा. 262

[4] मूलाचार पंचाचाराधिकार गा. 265

[5] त. सू. 1/2

[6] र. श्रा. श्लोक 4

[7] गो. जी. का. गा. 561

[8] व. श्रा. गा. 6

[9] द्र. सं. गा. 41

[10] आराधनासार गा. 4

[11] गो. जी. का. गा. 27

[12] गो. जी. गा. 28

[13] ज्ञानार्णव 6/7

[14] स. सि. 1/2/10, रा. वा. 1/2/29,

[15] भ. आ. वि. 51/175/18

[16] रा. वा. 1/2/31, अ. ग. श्रा. 2/65-66

[17] द्र. सं. टी. 41

[18] प. प्र. टी. 2/17

[19] पं. ध./उ. 426-428, द. पा. 2

[20] भ.आ. 35/127, स.सि. 6/24, रा.वा. 6/24/5,

[21] द्र. सं. टी. 35

[22] ध. 8/3,41/86/3

[23] पं. ध. उ. 431

[24] पं. का. 137, प्र. सा. ता. वश. 268

[25] स. सि. 6/12

[26] पं. ध. उ. 449

[27] भ. आ. वि. 1834/1643/3

[28] न्यायदीपिका 3/56/9

[29] पं. ध. उ. 452

[30] गो. जी. का/जी. प्र. 561

[31] समयसार तात्पर्य वृत्ति गाथा 97

-उपनिदेशक वीर सेवा मन्दिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)
दरियागंज, नई दिल्ली

एक मनीषी पाठक का पत्र

अनेकान्त और वीर सेवा मन्दिर से मेरा पुराना सम्बन्ध है। आपका अनेकान्त मिलता रहा है- यह आपकी कृपा है। यों तो पं. जुगलकिशोर मुख्तार से भी जब वे जीवित थे, मेरा पत्राचार चलता रहता था। अब मेरी आँखें खराब हो गई हैं। बिना देखे गलत-सलत लिख देता हूँ। आप सुधार लें।

'अनेकान्त' में प्रकाशित युगवीर गुणाख्यान में पं. जुगलकिशोर मुख्तार का **'हम दुखी क्यों हैं?'** शीर्षक लेख पढ़ा। जब वे जीवित थे तो उनके मार्गदर्शन पत्रों द्वारा मिलते थे। अब तो अनेकान्त के कर्मठ सम्पादक से ही आशा है। सुख-दु:ख शरीर का धर्म है। अत: आत्मा के स्तर पर उसे ले जाने से प्रश्न का स्तर भंग हो जाता है। लेकिन हम सब जीव जब सुख-दु:ख की बात करते हैं तो उसका सन्दर्भ व्यावहारिक जीवन से रहता है। मुख्तार साहब ने भी इसका विश्लेषण व्यावहारिक स्तर पर ही दिया है। आज अपरिग्रह महावीर के समय से हजारगुना प्रासंगिक है। परिग्रह और मानव सभ्यता साथ-2 नहीं चल सकते हैं। परिग्रह का अध्यात्म से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नही है। इसीलिए भगवान् महावीर, बुद्ध, ईसा मसीह सभी ने इस पर ध्यान दिया है। जैन धर्म यदि इसे सामाजिक धर्म बना सके तो विश्व सभ्यता की बागडोर उसके हाथों में होगी। बधाई स्वीकारें।

- प्रो. रामजी सिंह, पूर्व सांसद एवं कुलपति,
104, सान्याल एनक्लेव,
बुद्ध मार्ग, पटना-800001 (बिहार)

समाचार

श्रुतपंचमी महापर्व पर एक अच्छा आयोजन

दिल्ली। ऋषभ विहार दिल्ली के दिगम्बर जैन मन्दिर के विशाल हॉल में जैन संस्कृति के महापर्व श्रुतपंचमी के मंगल अवसर पर उपा. श्री गुप्तिसागर जी महाराज के मंगल आशीर्वाद एवं पावन सान्निध्य में जैन विद्या राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन 8-9 जून, 2016 को वास्तुविद् डॉ. मुकेश जैन 'विमल' के कुशल संयोजन में सम्पन्न हुआ। संगोष्ठी में व्याख्यानवाचस्पति डॉ. श्रेयांसकुमार जैन बड़ौत एवं डॉ. जयकुमार जैन मुजफ्फरनगर का सशक्त एवं प्रभावी निर्देशन रहा तथा प्रतिष्ठाचार्य ब्र. जयकुमार जैन 'निशांत' टीकमगढ़, ब्र. जिनेश मलैया इन्दौर, प्रतिष्ठाचार्य पं. हसमुख जी धरियावाद, डॉ. शीतलचन्द जैन जयपुर, प्रो. वृषभ प्रसाद जैन लखनऊ, डॉ. कपूरचन्द जैन खतौली एवं पं. विनोद कुमार जैन रजवांस के मार्गदर्शन ने संगोष्ठी को अभूतपूर्व गरिमा प्रदान की। संगोष्ठी में लगभग 70-75 विद्वानों की उपस्थिति रही, जिनमें 20-25 प्रतिभागियों ने अपने महत्त्वपूर्ण आलेखों का वाचन किया। अध्यक्षता प्रो. वृषभप्रसाद जैन ने की।

उपाध्याय श्री गुप्तिसागर जी महाराज ने संगोष्ठी की उपयोगिता बतलाते हुए कहा कि देव-शास्त्र-गुरु की आराधना करने के लिए विद्वानों एवं प्रतिष्ठाचार्यों की सन्निधि आवश्यक है। श्रावकों की जिज्ञासाओं की सम्पूर्ति विद्वानों से ही संभव है। संगोष्ठी की सफलता में बाल ब्रह्मचारिणी रंजना दीदी का योगदान अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय रहा। संगोष्ठी में पधारे विद्वानों ने महाश्रुत पूजा एवं जिनवाणी पालकी चल समारोह में अपनी सहभागिता से उसे सौम्य एवं आदर्श रूप देकर अनुकरणीय बनाया। इस संगोष्ठी की बड़ी विशेषता यह रही कि इसमें सभी आलेख वाचक विद्वान् युवा थे तथा उन्होंने वरिष्ठ विद्वानों के मार्गदर्शन में कार्य सम्पन्न किया। यह संगोष्ठियाँ कतिपय सरकारी संगोष्ठियों की अपेक्षा असरकारी रही। समाज ऐसी संगोष्ठी बुलाकर सामाजिक समस्याओं के समाधान का प्रयास करें तो अनेकविध सामाजिक अभ्युदय हो सकते हैं।

संगोष्ठी की आयोजना में ऋषभ विहार एवं विवेक विहार की दिगम्बर जैन समाज के साथ श्रुतपंचमी महोत्सव समिति के पदाधिकारीगण श्री रवीन्द्र जैन, श्री डी. के. जैन, श्री शरद जैन, श्री नवीन जैन आदि का प्रशस्य अवदान रहा। कार्यक्रम के सहसंयोजन के उत्तरदायित्व का निर्वाह श्री अनुराग जैन ने किया। एक अच्छे आयोजन के लिए हार्दिक बधाई !

- संपादक

वीर सेवा मंदिर प्रकाशन के ग्रन्थों पर विशेष छूट

निम्नांकित ग्रन्थों पर **50%** की विशेष छूट दी जा रही है। साथ ही उपहार स्वरूप ग्रन्थ भी प्राप्त कर सकते हैं। धनराशि चैक/ड्राफ्ट या सीधे संस्था के खाता सं. 603210100007664 बैंक ऑफ इण्डिया, अंसारी रोड ब्रांच, नई दिल्ली, IFSC-BKID0006032 के द्वारा जमा कराई जा सकती है।

ग्रन्थों का नाम	लेखक/टीकाकार	मूल्य
1.जैन लक्षणावलि भाग- 1-3	पं. बालचंद सिद्धान्त.	2500रु.
2.युगवीर निबंधावली खण्ड-1	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार	210रु.
3.जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा.-2	पं. परमानंद शास्त्री	150रु.
4.ध्यानशतक तथा ध्यान स्तव	पं. बालचंद सिद्धान्त.	100रु.
5.परम दिगम्बर गोम्मटेश्वर	नीरज जैन, सतना	75रु.
6.दिगम्बरत्व की खोज	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	100रु.
7.Jain Bibliography 1-2	Chhotelal Jain	1600रु.
8.निष्कम्प दीपशिखा	पं. पदमचंद शास्त्री	120रु.
9.तत्त्वानुशासन	आचार्य रामसेन	100रु.
10.समीचीन धर्मशास्त्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	150रु.
11.असहमत संगम	बैरिस्टर चम्पतराय जैन	150रु.
12. Pure Thoughts	Acharya Amitigati	50रु.

<u>उपहार ग्रंथ</u>

1. मेरी भावना अंग्रेजी सहित	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
2. महावीर जिन पूजा	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
3. श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
4. समन्तभद्र विचार दीपिका	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
5. हम दु:खी क्यों हैं ?	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
6. महावीर का सर्वोदय तीर्थ	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
7. उपासना तत्त्व तथा उपासना ढंग	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
8. वारसाणुबेक्खा	आ. कुन्दकुन्द स्वामी
9. समयपाहुड	रूपचंद कटारिया
10. Basic Tenets of Jainism	Dasrath Jain

दरियागंज 75वीं इंद्रों की शोभायात्रा 2016 की चित्रमय झलकियाँ

दरियागंज 75वीं इंद्रों की शोभायात्रा 2016 की चित्रमय झलकियाँ